

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-अन्तरंगपरीक्षानुगता

'घ'-कारविभागात्मिका

"ज्ञानयोगपरीक्षा"



भाष्यकारः-मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी-पथिकः
जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

महामहिम श्रीराष्ट्रपतिमहाभाग के प्रधानसंरक्षकत्त्व से समन्वित

'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'

के

तत्त्वावधान में प्रकाशित

एवं राष्ट्रभाषा–हिन्दी में उपनिबद्ध

ग्रन्थों की सूची

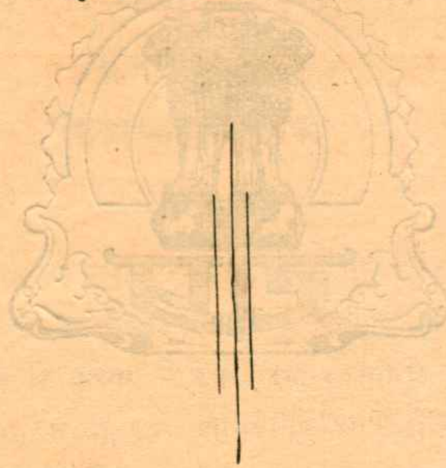
१–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथमखण्ड—'बहिरङ्गपरीक्षा'		१५)
२– ,,	–द्वितीयखण्ड–'आत्मपरीक्षा' (क) त्रिभागात्मिका	२०)*
३– ,,	–तृतीयखण्ड–'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' (ख) ,,	२०)*
४– ,,	–चतुर्थखण्ड–'कर्म्मयोगपरीक्षा' (ग) ,,	२०)*
५– ,,	–पञ्चमखण्ड–'ज्ञानयोगपरीक्षा' (घ) ,,	३)
६– ,,	–षष्ठखण्ड–'भक्तियोगपरीक्षा' (क) पूर्वखण्डात्मिका	२०)
७– ,,	–सप्तमखण्ड–'भक्तियोगपरीक्षा' (ख) उत्तरखण्डात्मिका	२०)
८– ,,	–अष्टमखण्ड–'बुद्धियोगपरीक्षा' (ग) विभागात्मिका	२०)
९–ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—प्रथमखण्ड	... ..	१५)
१० ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—द्वितीयखण्ड	... .	१५)
११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथमखण्ड	... ...	२०)
१२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड	... ...	१५)
१३–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–तृतीयखण्ड	... ...	१५)
१४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड		२०)*
१५–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड		१५)

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशित होने पर ही उपलब्ध होसकेंगे।

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–अन्तरङ्गपरीक्षानुगता
'घ'- कारविभागात्मिका

"ज्ञानयोगपरीक्षा"



भाष्यकारः–मोतीलालशर्म्मोपाह्वो–यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी–पथिकः
जयपत्तनाभिजनः

* * * *

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–जयपुर' के द्वारा प्रकाशित

एवं

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम–दुर्गापुरा–(जयपुर) के द्वारा मुद्रित

प्रकाशनतिथि–श्रावणशुक्ल–रक्षा–पूर्णिमा वि० सं० २०१६

(ता० १८ अगस्त, सन् १९५९)

प्रथमवार ५०० प्रति मूल्य ३) रु.

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग—के मान्य सचिव-द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत—प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है —



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली	यदुनाथसिंह (यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
दिनांक 30 अप्रैल 1956	मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–अन्तरङ्गपरीक्षानुगता *'घ'--कारविभागात्मिका--"ज्ञानयोगपरीक्षा"* के सम्बन्ध में

नम्र-आवेदन

—*—

'गीताशास्त्र' के महत्त्व के सम्बन्ध में स्वयं वह गीताशास्त्र ही सर्वमूर्द्धन्य प्रमाण है, जिस में मन्त्रब्राह्मणात्मक--वेदशास्त्र के रहस्यपूर्ण-परिभाषिक--सिद्धान्तों की "रूपरेखात्मिका सूची" ही समन्वित हुई है, जिस सूची के माध्यम से हम वैदिक-रहस्यों के द्वार का संस्पर्श कर सकते हैं। वेदशास्त्र में जिन सिद्धान्तों, तथ्यों, एवं आधिदैविक–आधिभौतिक–आध्यात्मिक-भेदभिन्ना सृष्टिविद्याओं का विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, गीताशास्त्रमें उन सभी विद्याओं का सङ्केत-रूप से समावेश होगया है। इसीलिए हमारी दृष्टि में-गीताशास्त्र-'वेदशास्त्र की पारिभाषिक-सूची' ही प्रमाणित होरहा है। सांख्यनिष्ठात्मक ज्ञानयोग, एवं योगनिष्ठात्मक कर्म्मयोग, इन दो विभिन्न धरातलों के अहंश्रेयोमूलक अतिमान के दुष्परिणाम-स्वरूप ही वेदशास्त्र की समन्वयात्मिका जो आचारनिष्ठा विस्मृतिगर्भ में विलीन होगई थी, उसकी पुनरभिव्यक्ति के लिए ही महाभारत समर-प्रसङ्ग में महाभाग अर्जुन के माध्यम से पूर्णावतार–भगवान् वासुदेवकृष्ण के द्वारा गीताशास्त्र आविर्भूत हुआ है, जिस का इसी कृष्णतत्त्व के द्वारा देवयुगारम्भ में विवस्वान् के प्रति प्रथमोपदेश हुआ था।

अवश्य ही दिग्देशकालानुगत–आज के बुद्धिवादात्मक-युग की दृष्टि में तथाकथित सभी तथ्य एक असमाधेया--समस्या ही बने रह सकते हैं। किन्तु वस्तुतत्त्व के आमूलचूड़ स्वरूप-संस्पर्श के अनन्तर इन सभी समस्याओं का सम्यग्रूपेण निराकरण होजाता है। इसी उद्देश्य की सफलता के लिए हमनें अपने वेदस्वाध्याय के साथ साथ ही वैदिकतत्त्वों–विद्याओं--की महत्त्वपूर्ण–सूची–रूपा-गीता के सम्बन्ध में भी–**'गीताविज्ञानभाष्य'** रूपेण किञ्चिदिव निवेदन करने का प्रयास किया है, जो भाष्य **'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'–'गीतातत्त्वद्रष्टा-भगवान्–वासुदेवकृष्ण'**, एवं **'गीतामूलभाष्य'**- रूपेण–तीन स्वतन्त्र खण्डों में विभक्त हुआ है।

खण्डत्रयात्मक–गीताविज्ञानभाष्य के संकलित तीन खण्डों में से–**'प्रथमखण्डात्मिका-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'** की रूपरेखा के प्रति ही दो शब्दों में गीताप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। प्रथमखण्डात्मक–यह भूमिका–खण्ड अपने अवान्तर–पारिभाषिक-विषयों के स्पष्टीकरणानुबन्ध से अवान्तर–नौ (९) खण्डों में सम्पन्न हुआ है, जिन खण्डों को हमनें **बहिरङ्गखण्ड–अन्तरङ्गखण्ड-सर्वान्तरतमखण्ड**-रूप से प्रमुख तीन खण्डों में विभक्त करना सामयिक–समझा है। बहिरङ्गखण्डात्मक प्रथमखण्ड में गीताशास्त्र की युगधर्म्मनिबन्धना 'बहिरङ्गपरीक्षा' ही हुई है। और इस बहिरङ्गपरीक्षात्मक–स्वतन्त्र खण्ड को ही गीताभूमिका का **'प्रथमखण्ड'** मान लिया गया है।

क्रमप्राप्त–**'अन्तरङ्गपरीक्षा'** नामक द्वितीयखण्ड **अवान्तर चार**–खण्डों में विभक्त हुआ है, जो चारों अवान्तर–खण्ड–क्रमशः (१)–**आत्मपरीक्षाखण्ड**, (२)–**ब्रह्मकर्म्मपरीक्षाखण्ड**, (३)–**कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड**, एवं (४)–**ज्ञानयोगपरीक्षाखण्ड**, इन नामों से समन्वित हुए हैं, एवं जिन इन चारों का क्रमशः **'क—ख – ग—घ'** रूपेण विभाजन हुआ है।

क्रमप्राप्त–**'सर्वान्तरतमपरीक्षा'** नामक तृतीय-खण्ड भी द्वितीयखण्डवत्-अवान्तर चार खण्डों में ही विभक्त-हुआ है, जो चारों अवान्तर-खण्ड क्रमशः **भक्तियोगपरीक्षा–उपास्ति-तत्त्वपरीक्षा–बुद्धियोगपरीक्षा–गीतासारपरीक्षा**–इन नामों से समन्वित हुए हैं, एवं जिन इन चारों का भी द्वितीय खण्डवत **'क-ख-ग-घ'** रूपेणैव विभाजन हुआ है। इसप्रकार **बहिरङ्गखण्ड-अन्तरखण्ड-सर्वान्तरतमखण्ड**-रूपेण प्रमुख तीन खण्डों में विभक्ता **'प्रथमखण्डानुगता-गीता-विज्ञानभाष्यभूमिका'** के अवान्तर ९ खण्ड होजाते हैं, जिनमें से बुद्धियोगपरीक्षाखण्डान्त आठ खण्ड तो प्रकाशित होचुके हैं, एवं सर्वान्त का **'गीतासारपरीक्षा'** नामक खण्ड शेष है। तत्प्रकाशनानन्तर **'नवखण्डात्मिका-गीताभूमिका'** सम्पन्न होजायगी। तदनन्तर ही क्रमप्राप्त **'गीतातत्त्व-द्रष्टा-भगवान् वासुदेव कृष्ण'** नामक द्वितीयखण्ड-(भूमिकाखण्डवत् अवान्तर ९ खण्डों से ही समन्वित), एवं **'गीतामूलविज्ञानभाष्य'** नात्रक तृतीय खण्ड (जिसके अवान्तर २४ चौबीस खण्ड समन्वित हुए हैं) प्रकाशनपथानुगामी बन सकेगा। आगे हम विषयसन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से एक तालिका उद्धृत कर रहे हैं, जिस से खण्डत्रयात्मक-गीताभाष्य के **'प्रथमखण्डात्मक–भूमिका-खण्डों'** का भलीभाँति समन्वय होजाता है।

गीताशास्त्रानुगत--पारिभाषिक-साहित्य की रूपरेखा

१–"गीताविज्ञानभाष्यभूमिका"--नामक--प्रथमखण्ड
२–"गीतातत्त्वद्रष्टा-भगवान्‌वासुदेवकृष्ण"-नामक--द्वितीयखण्ड
३–"गीतामूलविज्ञानभाष्य"–नामक--तृतीयखण्ड
खण्डत्रयानुगत–गीतासाहित्य

———*———

(१)–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-खण्डविभागों की रूपरेखा--

१—बहिरङ्गपरीक्षा		प्रकाशित	बहिरङ्गपरीक्षा १
२—आत्मपरीक्षा——	'क'-विभागात्मिका	"	अन्तरङ्गपरीक्षाखण्ड २
३—ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा—-'ख'	"	"	
४—-कर्म्मयोगपरीक्षा—'ग'	"	"	
५—ज्ञानयोगपरीक्षा—-'घ'	"	"	
६—भक्तियोगपरीक्षा--'क'	(भक्तियोगपरीक्षा–पूर्वखण्ड)		सर्वान्तरतमपरीक्षाखण्ड ३
७—उपास्तितत्त्वपरीक्षा-'ख'	(भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)		
८—बुद्धियोगपरीक्षा—'ग'	विभागात्मिका--प्रकाशित		
९—गीतासारपरीक्षा—'घ'	"	अप्रकाशित	

अवान्तर-नवखण्डात्मिका, प्रमुखरूपेण खण्डत्रयात्मिका–

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

प्रमथखण्डरूपा

१

जैसाकि निवेदन किया गया है, तथाकथित ६ खण्डों में से यद्यपि आरम्भ के ८ (आठ) खण्ड प्रकाशित होगए हैं। किन्तु इन आठों में से '२-३-४-' ये तीन खण्ड (आत्मपरीक्षा-ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ये तीन खण्ड) आज से १०-१५ वर्ष-पूर्व प्रकाशित हुए थे, एवं तभी से उन का वितरण प्रक्रान्त था। अतएव विगत २-३ वर्षों से वे तीनों ही खण्ड पुनःप्रकाशनापेक्ष बन गए हैं, जिन का पुनःप्रकाशन सम्भवतः अग्रिम वर्ष सम्पन्न होसकेगा।

भूमिका के सभी खण्ड पृष्ठसंख्यानुपात से बृहद्भावानुगत हैं। तदनुपात से ही क्रमानुगत-प्रस्तुत-**'ज्ञानयोगपरीक्षाखण्ड'** का भी आकार यद्यपि तदनुरूप ही था। किन्तु अपनी शारीरिक-अस्वस्थता के कारण उसे उसी रूप से हम प्रकाशित नहीं कर सके। ज्ञानयोगपरीक्षा के उत्तर-भावी भक्तियोगपरीक्षा के दो खण्डों के प्रकाशन के साथ ही हमें इसी वर्ष ज्ञानयोगपरीक्षाखण्ड का भी प्रकाशन कर देना था सत्तासाहाय्यानुबन्ध से। अतएव विवशतावश हमें पान्सौ पृष्ठात्मक-तत्खण्ड का केवल १०० पृष्ठों में हीं पर्य्यवसान कर देना पड़ा। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया, तो पुनः कभी भविष्य में इस क्षतिपूर्त्ति का प्रयास सम्भव बन सकेगा।

सचमुच ही सर्वथा एकाकीरूपेण प्रकाशनादि सभी सम्भारों का वहन करते करते अब हमारा शरीर सर्वथैव शिथिल होगया है। अतएव हम अब शीघ्र से शीघ्र इस वैज्ञानिक-साहित्य की संक्षिप्ता रूपरेखा आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित कर देना चाहिते हैं, जिस से कि यह ज्ञानविज्ञानात्मिका पारिभाषिकी परम्परा इष्टदेवानुग्रह से भविष्य के लिए प्रक्रान्त होसके, इसी मङ्गलकामना के साथ ज्ञानयोगपरीक्षाखण्डानुगत यह नम्र आवेदन-उपरत होरहा है।

नम्रः--आवेदकः —

श्रावणशुक्ल-रक्षापूर्णिमा
वि० सं० २०१६
मानवाश्रम

मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदनभोक्ता
जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

अथ–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–अन्तरङ्गपरीक्षानुगता 'घ'–कार–विभागात्मिका

"ज्ञानयोगपरीक्षा"

की

संक्षिप्ता–विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-अन्तरङ्गपरीक्षानुगता 'घ'-कारविभागात्मिका-ज्ञानयोगपरीक्षा की संक्षिप्ता-विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)

"संशोधित-ज्ञानयोगस्वरूप-की मीमांसा"

उपरता चेयं ज्ञानयोगपरीयाः संक्षिप्ता-विषयासूची

—*—

श्रीः

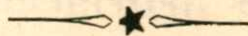
इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–अन्तरङ्गपरीक्षानुगता

'घ'–कार–विभागात्मिका

ज्ञानयोगपरीक्षा

की

संक्षिप्ता–विषयसूची–उपरता



श्री:

अथ–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः–अन्तरङ्गपरीक्षायाः—

अन्तरंगपरीक्षात्मकः-'घ' कार विभागात्मकः

"ज्ञानयोगपरीक्षाखण्डः"



श्रीः

अथ–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायां,–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता 'क'-कार विभागात्मिका "ज्ञानयोगपरीक्षा"

——*——

१-गीता के सम्बन्ध में–'कर्म्मयोगशास्त्रत्त्व'-भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास, तथा तदनुबन्धिनी ब्रह्म–कर्म्म, और कर्म्म–परीक्षाओं का संस्मरण—

गीता प्रधानरूप से कर्म्म का ही निरूपण करती है। साथ ही ज्ञान, एवं भक्तियोगों को गौण मानती हुई अवश्य ही "कर्म्मयोगशास्त्र है"। इसप्रकार से कर्म्माभिमानी बने हुए वेदवादरत प्राचीनों के कर्म्म–योग का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न का पूर्व के ब्रह्मकर्म्मपरीक्षात्मक, तथा कर्म्मयोगपरीक्षात्मक दो खण्डों में समाधान करने की चेष्टा की गई। शास्त्रीय क्रम की अपेक्षा कर्म्म-भक्ति–ज्ञान–ये श्रेणि–विभाग हैं। वृद्धव्यवहार--सम्मत, अतएव सर्वथा प्रामाणिक इस क्रम के अनुसार यद्यपि कर्म्मयोग के अनन्तर क्रमप्राप्त भक्तियोग का ही स्वरूप बतलाना उचित था। तथापि किसी कारणविशेष से इस सहज क्रम की उपेक्षा कर हमने भक्तियोग से पहिले ज्ञानयोगमीमांसा को ही पहिला स्थान देना उचित समझा है।

२–लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा लोकप्रचलित ज्ञान-कर्म्म–भक्ति–मार्गों का संशोधनपूर्वक गीताशास्त्र में संग्रह, एवं लोकप्रचलिता योगत्रयी से अनुप्राणित-'ज्ञान–योग' के सम्बन्ध में भगवान् की अभिरुचि, अनभिरुचि का समतुलन—

लोकसंग्राहक भगवान् ने परम्परा से प्रचलित तीनों हीं योगों का गीताशास्त्र में निरूपण अवश्य किया है, जैसाकि भूमिका–प्रथम खण्ड में अनेक स्थलों में स्पष्ट कर दिया गया है। लोकप्रचलित इन तीनों योगों में से निष्कामकर्म्मलक्षण बुद्धियोग के पक्षपाती भगवान् ने कर्म्मयुक्त कर्म्मयोग, एवं कर्म्मयुक्त भक्तियोग, इन दोनों में अपनी विशेष अभिरुचि प्रकट की है। दोनों हीं योगों में कर्म्म का सम्बन्ध है, अतएव सदसद्वादी (ज्ञानकर्म्मवादी) भगवान् दोनों का पलड़ा ऊँचा रखना चाहते हैं। यही कारण है कि कर्म्मयोग, भक्तियोग के संशोधित रूपों के निरूपण के लिए जहाँ ६–६ अध्यायों का समावेश है, वहाँ संशोधित ज्ञान–योग का निरूपण केवल ४ ही अध्यायों में हुआ है। एक स्थान पर तो **"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त-चेतसाम्"** यह कहते हुए स्पष्ट ही अव्यक्तमूलक ज्ञानयोग को अरुचिकर सिद्ध कर दिया है। संशोधित, अतएव बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से युक्त, (अतएव बुद्धियोगरूप ही) कर्म्म–भक्तियोगों का ६–६ अध्यायों में निरूपण करते हुए भगवान् ने अपने प्रधान मत (बुद्धियोग) के प्रतिपादक ६ अध्यायों के समकक्ष मानते हुए इहीं

दोनों में अपना पक्षपात प्रकट किया है । इन्हीं सब कारणों से ज्ञानयोग का आसन नीचा रहजाता है । इस सम्बन्ध में भगवान् ने अपनी वाणी का संयम से ही प्रयोग किया है । इसी अल्पभाव के कारण **"सूची-कटाहन्याय"** का आश्रय लेते हुए हमने पहिले ज्ञानयोग का स्वरूप बतलाना उचित समझा है । इसी न्याय के अनुसार इस योग के सम्बन्ध में विशेष विस्तार का भी अवसर नहीं है ।

३–संशोधित ज्ञानयोग के आधिदैविक-साधन-साध्यों का संस्मरण—

जिसप्रकार कर्म्मयोग में साध्य, साधन, दोनों आधिभौतिक थे, ठीक इसके विपरीत ज्ञानयोग में साध्य, एवं साधन, दोनों आधिदैविक माने गए हैं । ज्ञानयोग का स्वरूप भी आधिदैविक साधनों से ही निष्पन्न होता है, एवं ज्ञानयोग का फल भी आधिदैविक ही है ।

४–तमःप्रकाश-वत् परस्पर-अत्यन्त विरुद्ध ज्ञान, तथा कर्म्म का सह-समन्वयाभाव, एवं तन्निबन्धना महती विप्रतिपत्ति—

ज्ञानयोगपक्षपातियों का कहना है कि, हम संसार में **ज्ञान-कर्म्म** नाम के दो विरुद्ध तत्त्वों का समन्वय देख रहे हैं । ज्ञान सर्वथा प्रकाश स्वरूप है, नित्य है, एक है, शान्त है, निर्विकार है । उधर कर्म्म तमः स्वरूप है, अनित्य है, नानाभावाक्रान्त है, अशान्त है, सविकार है । तमः प्रकाशवत् अत्यन्त विरूद्ध इन दोनों का एक ही स्थान में हम समन्वय देख रहे हैं । अवश्य ही यह समन्वय एक धोका है, इन्द्रजाल है ।

५-विविध-लौकिक-दृष्टान्तों के माध्यम से कर्म्म का, तथा तद्रूप विश्व का मायामय-मिथ्यात्त्व-प्रतिपादन-प्रयास—

अन्धकार और प्रकाश जैसे एक स्थान पर नहीं रहते, स्वप्नदृष्ट पदार्थ जैसे सर्वथा मिथ्या हैं, स्थिति-गति का समन्वय जैसे असम्भव है, शुक्ति में दृष्ट रजत जैसे भ्रान्ति है, मृगतृष्णाजल जैसे एक काल्पनिक वस्तु है, सत्य और मिथ्या का जैसे एकत्र समन्वय नहीं होसकता, पाप और पुण्य में जैसे साहचर्य्य असम्भव है, दो शत्रुओं का मैत्रीभाव जैसे सर्वथा अनुपपन्न है, आग पानी जैसे एक स्थान पर नहीं रह सकते, ठीक इसी प्रकार ज्ञान और कर्म्म, दोनों का सहावस्थान किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं । परन्तु सहावस्थान देखा अवश्य जाता है । ऐसी दशा में हमें कहना पड़ेगा कि, हमारी ऐसी दृष्टि निरे भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । जिसप्रकार रजत न रहने पर भी शुक्ति (सीप) में रजत की भ्रान्ति होजाती है, मरीचिका में जल का अध्यास होरहा है, एवमेव ब्रह्म (ज्ञान) में कर्म्म का अध्यासमात्र है । मिथ्यादृष्टि ही इस अध्यास का मूल है ।

६–सत्-चित्-आनन्द-विभूतित्रयीरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीयमाना नाम-रूप-कर्म्म-त्रयी का मायामय-मिथ्यात्त्व, एवं कृत के द्वारा अकृत की प्राप्ति का आत्यन्तिक अभाव, और कर्म्मपरित्यागनिबन्धनैव अमृतत्त्वप्राप्ति—

जिस प्रकार ब्रह्म की सत्-चित्-आनन्द ये तीन विभूतियाँ नित्य हैं, एवमेव मायारूप कर्म्मात्मक विश्व के लौकिक व्यवहार में नाम-रूप-कर्म्म, ये तीन पर्व माने जारहे हैं । ये तीनों ही सर्वथा असत् होते हुए मिथ्या हैं, मायिक हैं, कल्पित हैं, अतएव सर्वथा त्याज्य हैं । शाश्वत आनन्द की प्राप्ति ही जीवात्मा

का परमपुरुषार्थ है। उधर शाश्वत आनन्दमूर्त्ति एकमात्र ज्ञानमूर्त्ति सद्ब्रह्म ही है। इसकी प्राप्ति तभी होसकती है, जबकि हम सम्पूर्ण विश्व का, एवं विश्वमूलक कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग कर दें। आत्मा अकृत (कर्म्मशून्य) है, विश्व कृत (कर्म्मरूप) है। "नास्त्यकृतः कृतेन" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार कृत (कर्म्म) से कभी अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होसकती। ऐसी दशा में एक मोक्षार्थी का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह पुत्र-कलत्र, लौकिक-वैदिक-कर्म्म-आदि सब का सर्वथा परित्याग कर केवल आत्मानुगामी हीं बना रहे। कर्म्मपरित्याग ही अमृतप्राप्ति का मुख्य हेतु है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है--

न कर्म्मणा, न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥

—कैवल्योपनिषत् १।२।

७-क्रियामय कर्म्म की अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-भाव-निबन्धना नास्तिसारता, एवं आवरणधर्म्मा तमोमय कर्म्म की किट्टजनकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

पहिले तो कर्म्म नाम का कोई सत्तासिद्ध पदार्थ है ही नहीं, जिसका कि अनुष्ठान किया जाय। क्योंकि कर्म्म क्रियाविशेष है, एवं क्रिया नाम का कल्पित तत्त्व नास्ति--अस्ति-नास्ति भेद से त्रिलक्षण बनता हुआ नास्तिसार ही है। अभ्युपगमवाद से यदि क्रिया नाम का कोई तत्त्व मान भी लिया जाय, तब भी आत्मसम्बन्ध के अतिरिक्त इस का ओर कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है। आत्मबन्धन के अतिरिक्त इन का और कोई लक्ष्य नहीं बनता। ज्ञान जहाँ सत्वमूर्त्ति है, वहाँ कर्म्म एकान्ततः तमोरूप है, आवरणरूप है, आवरणजनक है। उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रज्वलिता दीप-शीखा जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक कज्जल उत्पन्न करती है, एवमेध क्रियमाण तमोमय कर्म्म उत्तरोत्तर अधिकाधिक किट्ट ही उत्पन्न करता हुआ ज्ञानघन, अतएव ज्योतिर्म्मय आत्मा के प्रातिस्विक विकास का आवरक ही बनता है। इस दृष्टि से सर्वथा मिथ्याकर्म्म को एक वस्तुतत्त्व मान लेने पर भी वह उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

८-गीतोक्त कर्म्मादेश से अनुप्राणित निकृष्ट, तथा सामान्याधिकारीवर्ग, ज्ञानैकसारा मुक्ति, एवं अभ्यासपथानुगमन से कालान्तर में शुद्धज्ञानोदय से तत्प्राप्ति-सम्भावना—

यद्यपि गीता ने कर्म्म करने का आदेश दिया है, परन्तु वह उपदेश निकृष्ट अधिकारियों से ही सम्बन्ध रखता है। जिन का आत्मा लौकिक-वैदिक-कर्म्मों में आसक्तिपूर्वक लिप्त हैं, वे सहसा कर्म्म से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उन लौकिक सामान्य अधिकारियों के अभ्युदय के लिए ही स्थूलारुन्धतिन्याय से भगवान् ने आरम्भ में उन्हें कर्म्ममार्ग के अनुगमन का उपदेश दे दिया है। इसी के साथ "अनासक्ति" भाव का समावेश करते हुए भगवान् ने कर्म्मबल शिथिल भी कर दिया है। इस अभ्यास से कर्म्मठ का आत्मा शनैः शनैः कर्म्म से उपरत होने लगेगा, शनैः शनैः ज्ञान का उदय होता जायगा। इस अभ्यासमार्ग के द्वारा जब ज्ञान का उदय हो जायगा, तो उस सिद्ध दशा में पहुँचे हुए उस वीतराग संन्यासी के सम्पूर्ण कर्म्म अहि:कञ्चुकिवत्

अपने आप छूट जायँगे, एवं उस दशा में वह आत्मकाम बनता हुआ आत्मरति ही बन जायगा । कर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्टा यह आत्मरति ही मुक्ति का कारण बनेगी। ऐसे ज्ञानी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता- **"नैव तस्य कृतेनार्थः-नाकृतेनेह कश्चन"।**

९–कर्म्ममार्गपक्षपातियों का कर्म्मानुबन्धी मिथ्या अभिनिवेश, तन्मूला भ्रान्ति, तन्निराकरण--प्रयास, एवं सर्वतोभावेन भगवान् के द्वारा 'ज्ञानयोग' का ही समर्थन--समन्वय—

कर्म्ममार्ग के पक्षपाती कर्म्मसाधक–कुछ एक वचनों को आगे करते हुए गीता को कर्म्मयोगशास्त्र मानने का अभिमान कर रहे हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, गीता न भक्तिशास्त्र है, न कर्म्मशास्त्र ! कर्म्म, और भक्ति, इन दोनों का तो सामान्य अधिकारियों की निष्ठा की रक्षा के लिए, क्रमिक अभ्यास की सिद्धि के लिए गौणरूप से ही उपदेश हुआ है। कर्म्म–भक्ति की प्रभुता तभीतक है, जबतक कि ज्ञान का उदय नहीं होजाता। दोनों का द्वैतभाव से सम्बन्ध है, आत्मा अद्वैत है। जबतक आत्मा अविद्यादि दोषों से आवृत है, तभीतक यह द्वैतमूलक कर्म्म, किंवा भक्ति का अनुगामी बना रहता है। अद्वैतलक्षण ज्ञानोदय के अनन्तर कर्म्म, तथा भक्ति का नाम शेष भी नहीं रहता। ऐहलौकिक सुखसाधक यज्ञादि कर्म्म, पारलौकिक सुखसाधक (ईश्वरप्राप्तिसाधक) भक्ति–उपासना आदि कर्म्म ज्ञान के सामने कोई महत्त्व नहीं रखते। ज्ञानमार्ग में इन सम्पूर्ण कर्म्मकलापों का निधन है। अतएव केवल ज्ञानयोग के पक्षपाती भगवान् ने—**"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने ! परिसमाप्यते"** यह कहा है। **"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'** इत्यादि रूप से स्पष्ट ही भगवान् ज्ञानयोग में अपना पक्षपात प्रकट कर रहे हैं।

१०–कर्म्मवादियों का गीताशास्त्र--निबन्धन काल्पनिक--उपक्रमोपसंहार, एवं उस का आत्यन्तिक--निराकरण--प्रयास—

कर्म्मवादी यह कहने की भी धृष्टता करते हैं कि, 'गीता–का उपक्रमोपसंहार यह सिद्ध कर रहा है कि, "गीता का प्रधान लक्ष्य कर्म्मयोग, किंवा कर्म्ममार्ग ही है। अर्जुन युद्धकर्म्म से उपरत होगया था, इस के लिए गीता का आरम्भ हुआ । युद्धप्रवृत्ति ही गीतारम्भ का फल हुआ"। कहना न होगा कि ऐसे कल्पित उपक्रम–उपसंहार को आगे कर गीता को कर्म्मप्रतिपादक मान बैठना उन कर्म्मठों का विशुद्ध अभिनिवेश ही है। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाता है, तो उपक्रमोपसंहार हमारे ज्ञानयोग का ही समर्थन कर रहा है।

११–उपक्रमोपसंहार--निबन्धना गीताशास्त्रानुगता कर्म्मयोगानुगतिरूपा भ्रान्ति का प्रकारान्तर से स्वरूप--विश्लेषण--प्रयास—

"धर्म्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए उपस्थित अर्जुन में बन्धुप्रेम उमड़ आता है, राग का अधिकार होजाता है, फलतः उसके मुख से–**'न योत्स्ये'** ये अक्षर निकल पड़ते हैं। भगवान् गीता का उपदेश देते हैं। गीतोपदेश–श्रवणानन्तर वही अर्जुन-जिसने उपदेश-श्रवण से पहिले **'न योत्स्ये'** कह कर कर्म्ममार्ग से हटना चाहता था, आज **'करिष्ये वचनं तव'** कहता हुआ युद्धकर्म्म में प्रवृत्त होरहा है"— यही तो उन कर्म्मवादियों का उपक्रमोपसंहार है । इसी बल पर तो वे गीता को कर्म्मयोगशास्त्र मानने का अभिमान कर रहे हैं।

१२–तत्त्वात्मक गीताशास्त्र के वास्तविक--उपक्रमोपसंहार का स्वरूप--निदर्शन, एवं तद्द्वारा कर्म्मयोगमान्यता--भ्रान्ति--निराकरण--प्रयास—

पाठकों को विदित है कि, यह गीता न अर्जुनगीता है, न व्यासगीता है, अपितु इस का नाम है—भगवद्गीता। भगवान् का उपदेश भगवद्गीता कहलाएगी, न कि ऐतिहासिक--सन्दर्भसङ्गति के लिए व्यासदेव की ओर से उपात्त 'धर्म्मक्षेत्रे०से आरम्भ कर 'एवमुक्त्वा हृषिशम्:' यहाँतक ऐतिहासिक प्रकरण। वस्तुतः मूलगीता का आरम्भ तो 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्०' यहाँ से हुआ है। यही गीता का उपक्रम है। उपक्रम वचन का पूरा स्वरूप निम्न लिखित है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ॥
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

१३–भ्रान्तिनिवारक गीतासूत्र का अक्षरार्थ--समन्वय—

अर्जुन की धर्म्मप्रवणतामूलिका विकलता देखकर उस का उपहास करते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन ! जिन विषयों का तुझे शोक नहीं करना चाहिए, उन का तो तू शोक कर रहा है, और ऊपर से पाप-पुण्य की मीमांसा करता हुआ ज्ञानियों जैसी बाते बखानता है। तुझे स्मरण रखना चाहिए कि, ज्ञानियों की दृष्टि में मरने–जीने का कोई महत्त्व नहीं है"।

१४–गीता का वास्तविक उपक्रमस्थान, और तन्निबन्धन वास्तविक गीतायोगात्मक--'ज्ञानयोग'—

उक्त उपक्रम वाक्य से भगवान् अर्जुन को यही कहना चाहते हैं कि–"जो लौकिक वैदिक कर्म्मों में अहोरात्र लिप्त रहते हैं, वे ही पाप–पुण्य, जन्म–मृत्यु आदि द्वन्द्वों की मीमांसा किया करते हैं। द्वन्द्व द्वैत मूलक हैं, कर्म्ममार्ग ही द्वैतभाव का रक्षक है। परन्तु जो ज्ञानी द्वैतमूलक कर्म्ममार्ग से सर्वथा उपरत होचुके हैं, उन्हें न किसी के मरने पर शोक होता, न उत्पत्ति पर हर्ष होता। इसलिए तुझे इह युद्धजनित शोक के परित्याग के लिए द्वन्द्वभाव-प्रवर्त्तक कर्म्ममार्ग से हट कर अद्वैतमूलक आत्मज्ञान की ही शरण में जाना चाहिए"। इसप्रकार गीता का, भगवद्गीता का यह उपक्रमस्थल स्पष्ट ही ज्ञानयोग का समर्थन करता हुआ उसी को मुख्य उद्देश्य बतला रहा है।

१५–गीताशास्त्र के महत्त्वपूर्ण, तथा वास्तविक उपसंहारवचन के द्वारा गीताशास्त्र के ज्ञानयोगत्व का स्पष्टतमरूपेण--समर्थन—

गीतोपदेश-श्रवण के अनन्तर अर्जुन ने क्या कहा, क्या किया, ये सब तो बहिरङ्ग ऐतिहासिक धर्म्म हैं। गीताने उत्तम-मध्यम-प्रथमाधिकारी के भेद से सभी मार्ग बतला दिए। ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिया। अब जो जितनी योग्यता रक्खेगा, वह उसी मार्ग का अभ्यासी बनता हुआ कालान्तर में अभ्यासवशः उसी लक्ष्य (ज्ञानयोग) पर पहुँच जायगा। हमें यहाँ केवल भगवद्गीता के उपसंहार का विचार करना है। उपक्रम में ज्ञानयोग को प्रधान आसन देकर उपदेश आरम्भ करने वाले भगवान्ने किस योग को मुख्य मानते हुए उपसंहार किया, यही देखना है। और वह देखना निम्न लिखित रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित होता है—

क्वचिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।।
क्वचिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ! ।।१।।

१६–ज्ञानप्रधान गीताशास्त्र, एवं तत्समर्थक कतिपय भगवद्वचनों का संस्मरण—

भगवान् ने उपसंहार में "तुमने हमारा कथन एगाग्रचित्त से सुना ? क्या तेरा अज्ञानमोह नष्ट हुआ ?" यह कहते हुए स्पष्ट ही ज्ञानयोगमाहात्म्य को सर्वप्रधानता दी है । यह तो हुआ उपक्रमोपसंहारस्थल। अब यदि मध्यस्थलों पर हम दृष्टि डालते हैं, तो उनसे भी गीता का ज्ञानप्राधान्य ही सिद्ध होता है । उदाहरण के लिए निम्न लिखित वचन हीं पर्य्याप्त होंगे—

१–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गति ।।
२–श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं ततपरः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वापरां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।
३–अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।
४–न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्–स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।
५–ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषा नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। *

१७–'वेदान्त' अभिधा से अनुप्राणित उपनिषच्छास्त्र का ज्ञानप्रधानत्त्व, एवं तत्समतुलित गीताशास्त्र की भी उपनिषच्छास्त्रानुबन्धिनी वेदान्तानुगता ज्ञानयोगप्रधानता का समन्वय—

इन्हीं सब विस्पष्ट कारणों से हम गीता को ज्ञानयोगशास्त्र मानने के लिए तय्यार हैं । विद्वानों को यह भी विदित ही है कि, वेद का वेदान्त नाम से प्रसिद्ध उपनिषत् भाग ज्ञानकाण्ड है । गीता उसी औपनिषद, कर्मात्यन्तविमुक्त ज्ञान का प्रतिपादन करती हुई 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होरही है । इसप्रकार उपक्रमोसंहार, मध्य के प्रधान प्रधान स्थल, नाम आदि सभी भावेतिवृत्त गीता की ज्ञानप्रधानता ही सिद्ध कर रहे हैं ।

* भाष्यभूमिका–प्रथम खण्ड के तत्–प्रकरण में ज्ञानयोग के समर्थक वचन उद्धृत कर दिए गए हैं

१८-ज्ञानाभिनिविष्ट जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तियों के तथाकथित उद्गारों का संस्मरण, एवं वेदान्तज्ञान, और सांख्यज्ञान के पार्थक्य का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा कल्पित वेदान्त के द्वारा वास्तविक वेदान्त के आसन का अपहरण—

यह है उन वेदान्तभक्त व्याख्याताओं के उद्गार। इनके अतिरिक्त अंशरूप से इन्हीं से मिलता जुलता एक **सांख्यवाद** और है। ज्ञान के ही **वेदान्तज्ञान, सांख्यज्ञान**, भेद से दो विवर्त्त प्रचलित हैं। वेदान्तज्ञान व्याख्याताओं का ज्ञान है। किसी आप्तग्रन्थ में इस का निरूपण नहीं है। उपनिषत्, एवं तद्वचनसमन्वयरूप व्याससूत्र, दो ग्रन्थ प्रधानरूप से **वेदान्त** माने जाते हैं। तीसरी यही हमारी भगवद्गीता है। तीनों की समष्टि ही "**वेदान्त**" है। त्रिपर्वा इस वेदान्त में अद्वैतवाद का अवश्य ही समर्थन हुआ है। परन्तु "कर्म्म छोड़ देना चाहिए, कर्म्म मिथ्या है, कर्म्ममय विश्व मिथ्या है, कर्म्म आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक है" इन सब कुतर्कों का उक्त तीनों हीं वेदान्त-प्रस्थानों में आत्यनिक अभाव है। कुछ एक व्याख्याताओं नें कल्पना के द्वारा प्रस्थानत्रयी के सम्बन्ध में अपने उद्गार प्रकट किए हैं। एवं वे ही उद्गार आज भारतवर्ष में वेदान्तज्ञान नाम से प्रसिद्ध हैं। विवाद-पाखण्ड से सत् वेदान्तग्रन्थ का वास्तविक स्वरूप लुप्त होगया है, एवं उसका आसन इस सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण, अतएव कल्पित वेदान्तज्ञानने छीन लिया है।

१९-वास्तविक-वेदान्त-स्वरूप-जिज्ञासा, तत्समाधान-प्रयास, एवं वेदान्तानुगत निर्गुण प्रत्यगात्मा का स्वरूप-संस्मरण—

पाठक जिज्ञासा करेंगे कि, वास्तविक वेदान्त का क्या स्वरूप है?, तो उत्तर में हमें उनके सामने गीता का बुद्धियोग ही रखना पड़ेगा, जिसका कि विशद विवचन आगे आने वाले "**बुद्धियोगपरीक्षा**" नाम के प्रकरण में होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, इस वेदान्तज्ञान की प्रतिष्ठा अव्ययलक्षण शरीरस्थ **प्रत्यगात्मा** (हृदयस्थ ईश्वर) ही है। प्रत्यगात्मा शरीरमें रहता हुआ भी शरीरबन्धन से, जन्म-मृत्यु-आदि द्वन्द्वभावों से सर्वथा विनिर्मुक्त है, जैसाकि वेदान्तपुरुष कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥

—गीता।

२०-समवस्थित, तथा अविभक्त प्रत्यगात्मरूप परमेश्वर का स्वरूप-संस्मरण, एवं तत्प्रात्युपायभूता गीताशास्त्र की कौशलपूर्णा बुद्धियोगनिष्ठा का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यह परमात्मा -"**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**" "**अविभक्तं विभक्तेषु**" इत्यादि गीतासिद्धान्तों के अनुसार सर्वत्र अद्वयरूप से व्याप्त है। यही महिमामय प्रत्यगात्मा शोकनिवृत्ति का मूल-स्तम्भ है। सर्वसाधारण मनुष्य इस सर्वव्यापक वेदान्तनिधि से वञ्चित होते हुए ही द्वैतपाश में बद्ध हो दुःख पाया करते हैं। यदि इस प्रत्यगात्मा के सथा शारीरकात्मा का साम्य कर लिया जाता है, तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाती है। एवं इसकी प्राप्ति का उपाय निष्कामकर्म्मयुत गीतोक्त बुद्धियोग ही है। उपक्रमोपसंहार से भगवान् ने शरीर-आत्मानुयायी, अतएव शोकग्रस्त बने हुए अर्जुन का ध्यान इसी की ओर आकर्षित किया है।

२१–कपिलाभिमत 'सांख्यज्ञान' का स्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुगत प्रतिशरीरभिन्न शारीरकात्मा, एवं संख्यातः सिद्ध ज्ञान की सांख्यरूपता का समन्वय, और कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा का स्वरूप–समन्वय––

दूसरा सुप्रसिद्ध **सांख्यज्ञान** है। कपिलाचार्य्य इसके उद्भावक हैं, अतएव इस सांख्यनिष्ठा को **कपिलनिष्ठा** भी कहा जाता है। कपिल शारीरक आत्मा के अनुयायी हैं। अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षर ही इस शारीरक की प्रतिष्ठा है। यही देहाभिमानी सुख–दुःख–भोक्ता जीवात्मा है। यह प्रतिशरीर में भिन्न–भिन्न है। चौबीस गुणों से युक्त यह पच्चीसवाँ आत्मा अपने उस निर्गुण प्रत्यगात्मा की महिमा से वञ्चित होता हुआ द्वन्द्वानुगामी बन दुःख पाया करता है। इस दुःखनिवृत्ति का उपाय कपिलने यही माना है कि, हमें प्रकृति–पुरुष का विवेक कर आत्मा को कर्म्म से पृथक् कर लेना चाहिए। क्योंकि इस शारीरकात्मज्ञान का प्रधान साधन प्रकृति–पुरुष का विवेक है, अतएव इसे "**सांख्य**" कहा जाता है। गुणसांख्या का विवेक ही इस की सिद्धि का मूल द्वार है। **संख्यातः सिद्ध ज्ञान ही सांख्य है।** इसप्रकार सांख्यवादी आत्मा को कर्म्म से सर्वथा बाहिर निकाल देना चाहते हैं। यही कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा है। इसका आविर्भाव देवयुग में हीं होचुका था। दूसरे शब्दों में-जिस देवयुग में भगवान्ने सर्वप्रथम विवस्वान् को बुद्धियोगनिष्ठा का उपदेश दिया था, उससे पहिले ही अन्तरिक्षलोक में रहने वाली विमानवाहिका सिद्ध--जाति में उत्पन्न कपिलसिद्ध के द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा इस सांख्यनिष्ठा का कर्म्मनिष्ठा की भाँति पूरा प्रसार होचुका था।

२२–भगवान् के द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा का प्रचण्ड विरोध, एवं तत्–स्थाने वास्तविक-वेदान्तपुरुषनिष्ठा का संस्थापन, और उसकी बुद्धियोगनिबन्धनता––

भगवान् ने गीताशास्त्र में इसी सांख्यनिष्ठा का विरोध किया है। उन्होंने कपिलनिष्ठा का मूलोच्छेद कर उसके स्थान में बुद्धियोगनिष्ठा ही स्थापित की है। भगवान् ने बतलाया कि, कर्म्म एकमात्र प्रकृति की ही सम्पत्ति नहीं है। अपितु जिस सांख्यपुरुष को तुम विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति मान रहे हो, वह ज्ञानकर्म्मात्मक है। ज्ञानवत् कर्म्म भी आत्मा का स्वरूप है, अङ्ग है, अवयव है। उसे किसी भी दशा में नहीं छोड़ा जासकता। दूसरे शब्दों में--यों भी कहा जासकता है कि, गीतानें सांख्यनिष्ठा का मूलोच्छेद कर वेदान्तनिष्ठा स्थापित की। कौनसी ?, बुद्धियोगलक्षणा, न कि पूर्वोक्ता कल्पित वेदान्तनिष्ठा।

२३–प्रचलिता जगन्मिथ्यात्वलक्षणा वेदान्तनिष्ठा से गीताशास्त्र का असंस्पर्श, एवं कल्पित वेदान्त धुरीणों से अनुप्राणित युगधर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन––

गीता में प्रचलिता कर्म्मत्यागलक्षणा वेदान्तनिष्ठा का स्वतन्त्ररूप से खण्डन नहीं है, वहाँ सांख्य–निष्ठा से केवल शारीरककात्ममूला कापिलनिष्ठा ही अभिप्रेत है। कारण स्पष्ट है। सबसे पहिले तो गीतोपदेश देवयुग के आरम्भ में (विवस्वान् के प्रति) हुआ। इसके अनन्तर कालव्यतिक्रम से विलुप्त इस योग का उपदेश आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पहिले महाभारत–समराङ्गण में अव्ययवतार उसी

तत्त्व के द्वारा अर्जुन के प्रति हुआ। इधर हमारे कल्पित वेदान्ती व्याख्याताओं का जन्म महाभारत से सर्वथा अर्वाचीन है। गीतोपदेशकालों में कल्पित वेदान्तनिष्ठा का तो आत्यन्तिक अभाव ही था, अतएव उसके खण्डन का अवसर ही नहीं आया।

२४–गीताकालानुगता सांख्यनिष्ठात्मिका ज्ञाननिष्ठा, एवं कपिलसिद्ध के द्वारा संस्थापिता इत्थंभूता कपिलनिष्ठात्मिका सांख्यनिष्ठा का तन्मतानुबन्धी--स्वरूप समन्वय-प्रयास—

उस युगों में तो केवल कपिलनिष्ठा ही प्रचलित थी, अतएव गीता में उसी का खण्डन हुआ। कर्म्ममार्ग की प्रधानता को आगे कर के ही भगवान् ने सांख्यनिष्ठा का खण्डन किया है। इसी आधार पर कल्पनारसिक व्याख्याताओं की कल्पित वेदान्तनिष्ठा अपने आप परास्त होजाती है। "आत्मा सर्वव्यापक है, एवं वह विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति है। कर्म्म असत् है, मिथ्या है, किट्ट जनक है। अतः मोक्षार्थी को कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग करदेना चाहिए" यही कल्पिता वेतान्तनिष्ठा है। "आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है, एवं वह विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति है। कर्म्म का चतुर्विंशतिगणात्मिका प्रकृति से सम्बन्ध है। ज्ञानमूर्त्ति आत्मा के साथ कर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मोक्षार्थी को आत्मज्ञान-साधन के लिए लौकिक वैदिक कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग कर हठ-लयादि कायक्लेशात्मिका योग प्रक्रिया में हीं निरत रहना चाहिए" यह कापिलनिष्ठा है।

२५–शारीरकात्मा की दुःखप्रवृत्ति के मूल कारण का स्वरूपान्वेषण-प्रयास, तदनुगत द्वन्द्वभाव, विषयासक्तिबन्धन, रागद्वेषबन्धन, तन्मूला कामना, आदि विभिन्न भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं भगवन्निष्ठात्मिका वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा--लक्षणा वास्तविकी वेदान्तनिष्ठा से ही सम्भावित आत्मत्राण—

"जबतक शारीरक आत्मा अपने प्रभव प्रत्यगात्मा की महिमा से वञ्चित है, तभीतक यह दुःखी है, द्वन्द्वभाव का अनुगामी है। एवं यह द्वन्द्वभाव ही बन्धन का कारण है। द्वन्द्वभाव बन्धन का कारण नहीं है, द्वन्द्वप्रवर्त्तिका विषयासक्ति बन्धन का कारण है। विषयासक्ति बन्धन का कारण नहीं है, अपितु आसक्तिमूलक राग-द्वेष बन्धन के कारण है। रागद्वेष बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु रागद्वेषप्रवर्त्तिका कामना हीं बन्धन का मूल कारण है। कामना के परित्याग से किया हुआ कर्म्म बन्धन के स्थान में बन्धविमोक का ही कारण बन जता है। इसप्रकार मोक्षार्थी को अपने शारीरक आत्मा के साथ उस ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति प्रत्यगात्मा का योग कराते हुए, भेदसहिष्णु अभेदनिष्ठा प्राप्त करते हुए, भेदमूलक लौकिक-वैदिक कर्म्मों का यथावर्ण, यथा आश्रम निष्काम-भाव से अनुष्ठान करते रहना चाहिए। यही इसका परम पुरुषार्थ है"—बस यही बुद्धियोगनिष्ठा है, यही सची वेदान्तनिष्ठा है, यही भगवन्निष्ठा है। इसी निष्ठा की कृपासे पूर्वलक्षणा कल्पित वेदान्तनिष्ठा का स्वरूप बिना किसी प्रयास के ही छिन्न भिन्न होजाता है।

२६–कल्पित अद्वैतात्मक ज्ञानयोग, एवं द्वैतभावनिबन्धन ज्ञानयोग का स्वरूप–पार्थक्य-समन्वय—

उक्थ कथन से कहना यही है कि, एक ही ज्ञाननिष्ठा के आज दो रूप समझे जारहे हैं। एक ज्ञानयोग कल्पित अद्वैतवाद है, दूसरा ज्ञानयोग द्वैतवादमूलक ज्ञानयोग है। दोनों में से दूसरा ज्ञानयोग ही गीता की सांख्यनिष्ठा है, इसी का संशोधितरूप ज्ञानबुद्धियोग है, जैसा कि पूर्वप्रकरण के उपसंहार में बतलाया जाचुका है।

२७–भगवान् के द्वारा संशोधित कपिल–ज्ञानयोग की स्वरूप–जिज्ञासा, एवं तत्प्रसङ्ग च हेत्वाभासात्मक कारणों का नीरक्षीरविवेकोपक्रम—

अत्र प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित है कि, भगवान् के द्वारा संशोधित उस सांख्ययोग (ज्ञानयोग-कपिलनिष्ठा) का क्या स्वरूप है ?, तो इस के समाधान में हमें सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का ही स्वरूप उपस्थित करना पड़ेगा, एवं इसके स्वरूप परिचय के लिए विज्ञानसहकृत ज्ञान की मीमांसा करनी पड़ेगी। इस मीमांसा से पहिले जो कल्पित ज्ञानवादियोंनें, (अद्वैतवादियोंनें, किंवा जगन्मिथ्यात्त्व के पक्षपाती कलियुग कालीन अर्वाचीन वेदान्तियोंनें) अपने कर्म्मशून्य ज्ञानवाद की रक्षा के लिए पूर्व में जिन उदाहरणों को हमारे सामने रक्खा है, उन की मीमांसा करलेना उचित होगा।

२८–ज्ञान, और कर्म्म के असमन्वयात्मक प्रथम हेतु का संस्मरण, एवं तदनुप्राणिता विचारधारा का उपक्रम—

सब से प्रधान हेतु है-ज्ञानकर्म्म का असमन्वय। क्योंकि ज्ञानकर्म्म दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं, विरोधियों का समन्वय एक स्थान पर नहीं होसकता, परन्तु समन्वय देखा जाता है, अतएव वह सर्वथा अध्यासमात्र बनता हुआ कल्पित है, मिथ्या है। कर्म्म मिथ्या है, अथवा वस्तुतत्त्व है, यह विचार आगे किया जायगा। पहिले जिन कुछ एक विरोधी उदाहरणों के द्वारा उन्होंनें ज्ञान–कर्म्म के समन्वय को इन्द्रजाल बतलाने का साहस किया है, पहिले उन्हीं का विचार अपेक्षित है।

२६–अन्धकार, और प्रकाश–रूप दृष्टान्त के सम्बन्ध में हेत्वाभासात्मक आपातरमणीय-निर्णय—

१-पहिला दृष्टान्त अन्धकार और प्रकाश का है। दोनों हीं विरोधी हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। परन्तु "जहाँ अन्धकार रहता है, वहाँ प्रकाश नहीं रहता, एवं जहाँ प्रकाश रहता है, वहां अन्धकार नहीं रहता" यह कथन सर्वथा विज्ञान-विरुद्ध है। संभवत: उन ज्ञानियों को इन विरोधियों के समन्वय का तब परिज्ञान होता, जबकि दिन और रात, दोनों साथ साथ रहते। उन्होंनें अपनी स्थूलदृष्टि से देखा कि-दिन में अन्धकार नहीं है, रात्रि में प्रकाश नहीं है। बस निर्णय कर डाला कि, दो विरोधियों का समन्वय असम्भव है।

३०–अन्धकार, और प्रकाश के तात्त्विक स्वरूपों का समन्वय-प्रयास, दोनों का सह–समन्वय–प्रतिपादन, एवं तन्निबन्धन हेत्वाभास का निराकरण–प्रयास—

विज्ञान–सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश के पर्व पर्व में अन्धकार प्रतिष्ठित है, एवं अन्धकार के पर्व पर्व में प्रकाश प्रतिष्ठित है। प्रकाशसत्ता में अन्धकार प्रकाश के गर्भ में है, एवं अन्धकारसत्ता में प्रकाश अन्धकार

के गर्भ में है । शुक्लपक्ष का चन्द्रमा रात्रि में प्रकाश करता है । क्या दिन में चन्द्रमा कहीं चला जाता है ?, अथवा उस की प्रकाशशक्ति नष्ट होजाती है । दोनों में से एक भी बात नहीं है । रात्रिवत् दिन में भी उसी नभोमण्डल में चन्द्रमा प्रतिष्ठित है, एवं उस में से प्रकाशरश्मियाँ भी ज्यों की त्यों निकल रहीं हैं । होता यह है कि, चान्द्रप्रकाश से कहीं प्रबल सौरप्रकाश के आगमन से चान्द्रप्रकाश आवृत होजाता है, इसी को "**अभिभूति**", किंवा "**अभिभव**" कहा जाता है । इसी अभिभव के कारण रहता हुआ भी चान्द्र प्रकाश हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता । एतावता क्या दिन में चान्द्रप्रकाश का अभाव सिद्ध होगया ? । कदाचित् इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में आप यह आपत्ति उठावें कि, हम तो विरोधियों का असमत्त्व बतला रहे हैं । चान्द्रप्रकाश और सौर प्रकाश, दोनों तो प्रकाशत्त्वेन सजातीय हैं । यही नहीं, चन्द्रमा में जो प्रकाश है, वह सूर्य का ही आगन्तुक प्रकाश है । सजातीयों के समन्वय का हमनें विरोध ही कब किया है ? ।

३१–कार्य्य-कारण–भावनिबन्धना सजातीयता, विजातीयता का वास्तविक–स्वरूप–समन्वय, एवं विरोधियों के भी एकत्र अवस्थान की सम्भावना का दिग्दर्शन—

कौन सजातीय है ?, कौन विजातीय है ?, पहले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए । यदि कार्य्यकारणभाव ही सजातीय-विजातीय भाव की प्रतिष्ठा है, तब तो आकाश और वायु को सजातीय मानना चाहिए था । क्योंकि "**आकाशाद्वायुः**" के अनुसार आकाश कारण है, वायु उसका कार्य्य है । इस सजातीयता से तो वायुका स्पर्शगुण आकाश का भी गुण माना जाता चाहिए था । परन्तु कोई भी बुद्धिमान् सजातीय विजातीय भावों के निर्णय के सम्बन्ध में कार्य्य–कारणभाव को मूल नहीं बतला सकता । वायु अग्नि का कारण है, तो क्या वायु–अग्नि सजातीय पदार्थ हैं । पानी से बनी हुई मिट्टी और पानी क्या सजातीय मानें जायँगें, कभी नहीं माने जायँगे, नहीं माने जाते । ठीक वही स्थिति उक्त चन्द्र दृष्टान्त के सम्बन्ध में समझिए । यह ठीक है कि, चान्द्रप्रकाश का कारण सूर्य्य ही है । परन्तु पानीयपिण्डरूप चन्द्रमा की वस्तु बनते ही चान्द्रप्रकाश सौर प्रकाश की अपेक्षा विजातीय बन जाता है । दोनों के नाम-रूप-कर्म्म–गुण- पृथक् होजाते हैं । वह उष्ण प्रकाश है, यह शीतप्रकाश है । वह उग्र है, यह शान्त है । वह वनस्पतियों का पोषक है, यह ओषधियों कापति है । वह बुद्धि का उपकारक है, यह मन का स्वरूप–समर्पक है । उसके विकासकाल में (अहः काल में) नक्षत्रों का अभिभव है । इस के विकासकाल में (रात्रि में) नक्षत्र भी प्रकाशित रहते है । इन सब कारणों के रहते कौन दोनों प्रकाशों को सजातीय कह सकता है ? । जब दोनों सजातीय नहीं, साथ ही रात्रिवत् अहःकाल में भी चान्द्रप्रकाश का अभाव नहीं, केवल अभिभव है, तो हम कह सकते हैं कि–दो विरोधी भी एक स्थानपर अवश्य ही रह सकते हैं ।

३२–अभ्युपगमवादन्यायेन सजातीय--दृष्टान्त की उपेक्षा, एवं विजातीय--दृष्टान्त के माध्यम से वस्तु के वास्तविक स्वरूप का समन्वय--प्रयास, एवं प्रकाश, तथा अन्धकार के अभिन्न मैत्री–सम्बन्ध का स्वरूप--समन्वय—

अथवा अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देरके लिए दोनों को सजातीय मानते हुए इस दृष्टान्त को छोड़ देते हैं । एवं प्रत्यक्षविरोधी अन्धकार, एवं प्रकाश का ही दृष्टान्त आप के सम्मुख रखते है । चारों ओर से सर्वथा आवृत एक मकान में आपकी दृष्टि से प्रकाश का अभाव है । इतना गहरा अँधेरा है कि, हाथ से हाथ भी नहीं सुझाई देता । अच्छा–एक दीपक ले आइए, लीजिए आगार में उजेला

होगया, वहाँ रक्खीं हुईं सब वस्तुएँ भी इस दीपप्रकाश से प्रकाशित होगईं। आप के कथनानुसार प्रतिद्वन्दी इस प्रकाश के आते ही अँधकार प्रथम तो नष्ट होगया, अथवा किसी परलोक में विलीन होगया। अच्छा-उस साधारण दीपक के अतिरिक्त एक गेस की लेन्टर्न और ले आइए। लीजिए! उस के आते ही तो दिन का सा प्रकाश होगया। बस यहीं हम आपसे पूँछते हैं कि, लेन्टर्न के आने से प्रकाश अधिक क्यों होगया?। अथवा लेन्टर्न से भी अधिक प्रकाश करने वाले एक सहस्र पावर के विद्युद्यन्त्र लगादेने से और अधिक प्रकाश क्यों होजाता है?। बस इस प्रश्न का समाधान ही अन्धकार, और प्रकाश, दोनों विरुद्ध तत्त्वों के समन्वय का कारण बन रहा है। दीपशीखा ने अँधकार को न तो नष्ट ही किया था, एवं न उसे परलोक ही भेजा था। अपितु उसे आवृतमात्र कर लिया था। क्यों कि उस घन अँन्धाकार की तुलना में दीपप्रकाश निर्बल था, अतएव अन्धकार का पूरा अभिभव नहीं हुआ था। घनप्रकाश के आने से वह सर्वात्मना अभिभूत होगया, अतएव प्रकाश अधिक प्रतीत होने लग गया। फलतः सिद्ध होगया कि, प्रकाश में अवश्य ही अन्धकार विद्यमान है।

३३–नभोमण्डलानुगता सूर्य्यसत्ता से अनुप्राणित अहःकाल में अन्धकार के साम्राज्य का दिग्दर्शन, एवं रात्रिभुक्त अन्धकार में प्रकाश के साम्राज्य का दिग्दर्शन—

नभोमण्डल में सूर्य्य प्रकाशित है। मेघ का आवरण होगया, अँधेरा होगया। घनघोर घटा छा गई, अन्धकार और बढ़ गया, सूर्य्य अस्त होगया, अन्धकार और प्रबल बन गया। चन्द्रमा भी नहीं रहा, मेघावरण से नक्षत्रप्रकाश भी अभिभूत होगया। घोर अन्धकार होगया। इसप्रकार उत्तरोत्तर बढ़ने वाला यह अन्धकार यही सिद्ध कर रहा है कि, न तो अन्धकार के आगमन से प्रकाश नष्ट होता, न परलोकगमन करता। केवल अभिभव है। फलतः सिद्ध होगया कि, अन्धकार में अवश्य ही प्रकाश विद्यमान है।

३४–वृक्षच्छाया, तृणच्छाया–आदि विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से तमः-प्रकाश--नामक आत्यन्तिक विरोधियों के भी सहावस्थान का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं तत्-सम्बन्ध में आर्षवचनों का संस्मरण—

इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। दिनमें हीं दोनों का प्रत्यक्ष कर लीजिए। सौर प्रकाशसत्ता में भी वृक्षादि की छाया प्रत्यक्षदृष्टा है। यह छाया अन्धकार नहीं, तो और क्या है?। यदि सौर प्रकाशने अन्धकार को भगा ही दिया था, अथवा नष्ट ही कर दिया था, तो यह छाया कहाँ से आई?। प्रकाशमण्डल में एक तृण खड़ा कर दिया जाता है, तो उस की छाया पड़ती है। यह छाया ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, ऐसा कोई अन्धकार नहीं, जिस में तारतम्य से प्रकाश न रहता हो, एवं ऐसा कोई प्रकाश नहीं, जिस में तारतम्य से अन्धकार न रहता हो। इसप्रकार दोनों विरुद्ध तत्त्वों का हम एक ही स्थान में, एक ही बिन्दु में समन्वय देख रहे हैं। इसी समन्वयभाव का दिग्दर्शन कराते हुए विज्ञानाचार्य्य कहते हैं—

न हि ध्वान्तमीदृङ् न यत्र प्रकाशः।
प्रकाशो न तादृङ् न यत्रान्धकारः॥
तमो वा प्रकाशोऽपि यत्र तत्र।
प्रतीमस्ततोऽपि प्रकर्षात् प्रकर्षम्॥१॥

जन्यः प्रकाशोऽस्ति, यदा प्रकाशो निरुध्यते तर्हि नियम्य तत्र ॥
नित्यस्थितं भाति तमः स्वथोऽथ प्रकाशतश्चाव्रियते ततोऽपि ॥२॥

यस्तेजसोऽभाव इदं तमः स्याद्भावः स नेत्याहुरुलूकमुख्याः ॥
तमोऽपि भावस्तमसो हि शाकायन्यादयः सृष्टिमिमां वदन्ति ॥३॥

३५–जगन्मिथ्यात्ववादी-कल्पित-वेदान्तियों के द्वितीय महान् दुर्ग--'स्वप्नजगत्' नामक हेत्वाभास का नीरक्षीविवेक--प्रयास, एवं जाग्रदवस्थानुबन्धी स्वप्नजगत् का स्वरूप-संस्मरण—

२—जगन्मिथ्यावादियों का दूसरा दुर्ग स्वाप्न जगत् है। स्वप्नवत् जगत् को मिथ्या सिद्ध करना इन की प्रबल युक्ति है। और हम देखते हैं, कि वैदिकविज्ञानशून्य आज का भारतवर्ष पद पद पर इसी दृष्टान्त को दोहराता हुआ जगन्मिथ्यात्ववाद के गुणगान करता रहता है। जिस स्वप्न के आधार पर यह मिथ्यावादी नामरूपात्मक सत्यजगत् को मिथ्या सिद्ध करने चले हैं, देखें उस आधार में कितना तथ्य है ?। जाग्रदवस्था में बुद्धिसहकृत मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का साक्षात् करता है, जो शब्द सुनता है, जो कल्पना करता है, उन से तज्जन्य वासना नामक एक संस्कार उत्पन्न होजाता है। इन अनेकविध संस्कारों में प्रज्ञानमन सदा युक्त रहता है। सुषुप्त्यवस्था में इन्द्रियद्वार अवरुद्ध होजाते हैं, मन बाहिर की ओर अनुधावन करने में असमर्थ होजाता है। उस समय बौद्धिक-प्रकाश के सहारे वह अपने संचित संस्कारों से ही क्रीड़ा करने लगता है। इस मानसक्रीड़ा का ही नाम "स्वप्नदर्शन" है। जिस वस्तु का जाग्रदवस्था में कभी अनुभव नहीं किया हो, स्वप्न में वह कभी नहीं दिखलाई देसकती।

३६–जाग्रदवस्थानुप्राणित स्वप्नजगत् के सम्बन्ध में कतिपय जिज्ञासात्मिका प्रतिपत्तियाँ, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

आप प्रश्न करेंगे कि–हमनें जाग्रदवस्था में कभी इंग्लैण्ड नहीं देखा, कभी आकाश में नहीं उड़े, कभी समुद्र के अन्तस्तल में गोता नहीं मारा, कभी मद्यपान नहीं किया, कभी अपने आप को मरा हुआ नहीं देखा। परन्तु हम देखते हैं कि-स्वप्नदशा में हम इंग्लैण्ड पहुँच जाते हैं, वहाँ के सुन्दर दृश्य देखने लगते हैं। कभी पक्षी की भाँति आकाश में उडने लगते हैं। कभी समुद्रगर्भ में गोता लगाते हैं। कभी मद्यपान का अनुभव होने लगता है। और कभी कभी तो यह भी होता है कि, मानो हम मरगए हैं, कुटुम्ब में कलह मच रहा है। लोग हमें अरथी में बाँध कर श्मशान की ओर लेजा रहे हैं। इन सब दृश्यों का जाग्रदवस्था में अभाव है। फिर यह कैसे कहा जासकता है कि, स्वप्न में हम उसी का अनुभव करते हैं, वही देखते हैं, जिस का कि जाग्रदवस्था में अनुभव एवं दर्शन होता है।

३७-'न तत्र रथा न रथ योगा०' इत्यादि श्रुतिमूलक स्वप्नजगत् के वास्तविक स्वरूप का समन्वय-प्रयास, एवं जाग्रदवस्था का ही स्वप्नावस्था के प्रति मूलप्रतिष्ठात्त्व-समन्वय—

अवश्य ही संस्कारसिद्धान्त अटल है। होता क्या है-सुनिए। आपने अपनी आँखों से कभी इंग्लैण्ड नहीं देखा, यह सच है। परन्तु पुस्तकों के द्वारा, एवं इंग्लैण्ड जाने वालों के मुख से आपने इंग्लैण्ड का स्वरूप देखा और सुना है। इस वर्णनात्मक दर्शन से, एवं श्रवण से मन पर संस्कार होगया, वही संस्कार इंग्लैण्ड-भ्रमण का कारण बना। इंग्लैण्ड में जाग्रदवस्था में आपने कभी भ्रमण नहीं किया। परन्तु भ्रमण तो किया है, यहाँ तो आप घूमते रहते है। इस भ्रमणसंस्कार का उस वर्णनानात्मक दर्शन-श्रवण संस्कार के साथ योग-मात्र होजाता है, आपको यह प्रतीत होने लगता है कि, हम हीं इंग्लैण्ड में भ्रमण कर रहे हैं। पक्षी को आकाश में उड़ते देखा था, उसका संस्कार विद्यमान है। हमारे आत्मा के साथ इस संस्कार का योग होजाता है, हम उड़ने लगते हैं। इसीप्रकार अन्य उदाहरणों में भी संस्कारसंयोग का सम्बन्ध-तारतम्य ही मुख्य कारण है। जाग्रदवस्था ही स्वप्नावस्था की प्रतिष्ठा है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"न तत्र रथा, न रथयोगा, न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान्-रथयोगान्, पथः सृजते।XXX। स्वप्नान्तऽउच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेवस्त्रीभिः-सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्।XXX। अथो खल्वाहुः-जागरित देश एवा-स्यैषः। यानि ह्येव जाग्रत्-पश्यति, तानि सुप्तः" (शत० १४ का०)

३८-कार्य्य के द्वारा संभावित कारण का स्वरूप, एवं कार्य्य-कारणानुबन्धी स्वप्नजगत् की वास्तविकता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

कार्य्य से ही तो कारण का अनुमान होता है। जब कारणरूपा जाग्रदवस्था सत्या है तो, कार्य्यरूपा स्वप्नावस्था कैसे मिथ्या हो सकती है ?। ऐसी दशा मे स्वप्नदृष्टान्त के द्वारा जगन्मिथ्यात्त्व कैसे सुरक्षित रह सकता है ?। मिथ्या शब्द का अर्थ "कुछ नहीं" है। मिथ्या शब्द अभाव का सूचक है। न यह किसी का कारण बनता, न कार्य्य बनता। उधर स्वप्नजगत् के साथ हम कार्य्यकारण का सम्बन्ध देख रहे हैं। श्रुतिने स्पष्ट ही स्वप्न को कार्य्य माना है, एवं जाग्रत् को कारण माना है।

३९-आपः, और मृद्-भावानुबन्धी कार्य्यकारणभाव, एवं तदाधारेण स्वप्नावस्था का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अपिच पानी की कार्य्यभूता मिट्टी जिसप्रकार ओषधि-वनस्पतियों का कारण बनती है, एवमेव जाग्रदवस्था का कार्य्यभूत स्वप्न भी शुभाशुभ फलों का कारण माना गया है। जिस वेदान्तशास्त्र के आधार पर व्याख्याता स्वप्नवत् जगत् को मिथ्या सिद्ध करने चले हैं, उस वेदान्त से ही पूँछिए कि, वह स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में क्या निर्णय करता है !।

४०-स्वप्नात्मिका सान्ध्यावस्था की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भगवान् व्यास, एवं शुभ--अशुभ--उदर्कों का सूचक स्वाप्नजगत्, तथा स्वप्न की सत्यरूपता का समन्वय—

व्याससिद्धान्तानुसार स्वप्नावस्था जाग्रत्-एवं सुषुप्ति के मध्य की वस्तु होने से "सान्ध्यावस्था" नाम से प्रसिद्ध है। इस अवस्था में व्यास ने सृष्टि (कार्य्योत्पत्ति मानी है, जैसा कि, "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" (शा० वेदान्तसूत्र) इत्यादि से स्पष्ट है। आगे जाकर व्यास ने स्वप्नसृष्टि का जीवमाया के साथ सम्बन्ध माना है। ईश्वरमाया से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि में देश-काल-निमित्त-सम्पत्-लक्षण कात्स्न्र्यभाव विद्यमान रहता है। अतएव वह सृष्टि व्यक्त रहती है। इधर जीवमाया से सम्बन्ध रखने वाली स्वप्नसृष्टि में संस्कारों के साङ्कर्य्य से कात्स्न्र्यलक्षणा अभिव्यक्ति का अभाव है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते हैं—

"मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"।

४१ शुभाशुभसूचक, अतएव कार्य्यकारणभाव-निबन्धन, अतएव यद्भावात्मक सत्य-भावापन्न--स्वप्नजगत्, और तत्र आर्षवचन-संस्मर —

माया एक बलविशेष है, न कि मिथ्याभाव, जैसाकि ज्ञानभिमानी मानते आरहे हैं। ईश्वरमाया महामाया नाम से प्रसिद्ध है, एवं जीवमाया योगमाया नाम से प्रसिद्ध है। यदि माया का अर्थ मिथ्या ही होता, तो आगे जाकर सूत्रकार-'सूचकश्च हि श्रुतेः' 'आचक्षते च तद्विदः' यह न कहते। स्वप्न बुरे भी आते हैं, अच्छे भी। अच्छे स्वप्न भाग्योदय के सूचक हैं, तो बुरे स्वप्न हानि के सूचक हैं, जैसाकि निम्न-लिखित वचन से स्पष्ट है—

यदा कर्म्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥

४२-श्रुति के द्वारा विस्पष्ट शब्दों में स्वप्नजगत् की कार्य्यकारणभावनिबन्धना वस्तु--स्वरूप-सत्ता का समर्थन--स्पष्टीकरण—

श्रुति ने भी एक स्थान पर कहा है कि, यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में काले दाँत वाले, काले रँग के भयावह पुरुष को देखता है तो यह मृत्यु की सूचना है—"पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति, स एतं हन्ति"। स्वप्नविज्ञान के परिज्ञाता वृद्धों का व्यवहार भी इस सम्बन्ध में प्रमाण है-"आचक्षते च तद्विदः"। जबकि स्वप्न शुभाशुभ कार्य्यों का सूचक है, तो उसे मिथ्या कैसे कहा जासकता है ?। मिथ्या (अभाव) भी किसी कार्य्य का सूचक बनता है क्या ?।

४३-शारीराग्निक्षोभजनित संघर्ष से उत्पन्न स्वेदकण, तन्निबन्धना स्वप्नावस्था, एवं उस की सत्यरूपता —

न केवल स्वप्न कार्य्यों का सूचक ही है, अपितु जनक भी है। स्वप्न के विभक्त दृश्यों से मनुष्य चीत्कार करने लगता है। ललाट पर पसीने आजाते है। शारीराग्नि का क्षोभ ही शब्दनिर्गमन, एवं स्वेद

प्रस्रवण का कारण है। मानना पड़ेगा कि-किसी सद्वस्तु ने हीं शारीराग्नि में संघर्ष उत्पन्न किया है। और वह सद्वस्तु स्वप्नजगत् ही है। यदि वह मिथ्या होता, तो कभी चीत्कार, एवं स्वेद का प्रादुर्भाव नहीं होता।

४४-दाम्पत्यभावनिबन्धन फलकर्म्म से अनुप्राणित कार्य्यकारणात्मक स्वप्नजगत् की असंदिग्धा सत्यता का स्वरूप--समन्वय—

स्वप्नावस्था में रेतःस्खलन देखा गया है। बिना संघर्ष के कभी वीर्य्यपात संभव नहीं. बिना व्यापार के संघर्ष सम्भव नहीं, एवं बिना सद्वस्तु के कार्य्यकारणभाव के व्यापार सम्भव नहीं, इस प्रत्यक्षदृष्ट कार्य्य से भी तत्-कारण भूत स्वप्नजगत् की सत्यता ही सिद्ध होती है। "नामरूपे सत्यम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार विश्व मिथ्या नहीं, तत् संस्काररूप स्वप्नजगत् भी मिथ्या नहीं। जब स्वप्नजगत् ही मिथ्या नहीं, तो उसके आधार पर जगत् को कैसे मिथ्या बतलाया जासकता है ?।

——**——

४५-स्थिति--गति--भाव--निबन्धन क्रमप्राप्त तीसरे उदाहरण का नीरक्षीरविवेक, एवं तन्निबन्धन स्थिति-गति-भावों का सहावस्थानात्मक वास्तविक--स्वरूप--दिग्दर्शन--प्रयास—

३—तीसरा उदाहरण स्थिति-गतिभाव है। दोनों विरूद्ध हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। "परन्तु दोनों का समन्वय नहीं होसकता" यह कथन सर्वथा विज्ञानविरूद्ध है। ऐसी कोई स्थिति नहीं, जिसमें गति न हो, एवमेव ऐसी कोई गति नहीं–जिसमें स्थिति न हो। गति ही स्थिति की प्रतिष्ठा है। जिस दिन स्थिति में से गति निकल जाती है, स्थिति गतिरूप में परिणित होजाती है, जैसाकि ईश-विज्ञान भाष्यादि में सोदाहरण स्पष्ट कर दिया गया है। जिस ब्रह्म को केवल ज्ञानमय मानने का ज्ञानवादी अभिमान कर रहे हैं, वह ब्रह्म–स्वयं दोनों विरूद्ध–भावों की समष्टि है। वही स्थिति है, वही गति है। किंवा–वह स्थिति (ज्ञान), गति (कर्म्म) की समष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

४६-शुक्ति–रजत, रज्जु-सर्प, स्थाणु--पुरुषादि अन्यान्य हेत्वाभासों का नीरक्षीरविवेक, एवं उन का निःसारत्व—

४—"शुक्ति (सीप) में रजत की भ्रान्ति होती है" यह चौथा उदाहरण है। स्वप्नदृष्टान्त की भाँति यहाँ भी संस्कारों का ही विपर्य्यय है। रजतकणों का चाकचिक्य संस्कार आत्मा में प्रतिष्ठित है। उधर शुक्ति में भी वही चाक्य–चिक्य विद्यमान है। दोनों की सजातीयता ही इस भ्रान्ति का मूल है। अथवा शुक्ति में रजत नहीं है, यह किसने कहा ?। अवश्य ही वहाँ रजतकण विद्यमान हैं। परन्तु वे शुक्ति के साथ ऐसे

सांश्लिष्ट हैं, जिनका पृथक्करण नहीं होसकता। पृथक्करण भी होसकता है, परन्तु वह बहुप्रयास, एवं बहुद्रव्य-व्यय सापेक्ष है। यमुना की मिट्टी में जो रजत चाकचिक्य दिखलाई पड़ता है, वह भ्रान्ति नहीं है, अवश्य ही वहाँ रजत विद्यमान है। वैज्ञानिकोंनें उसके पृथक्करण का प्रयास भी किया था, परन्तु बहुद्रव्यव्यय-सापेक्ष होने से वह कार्य्य ठीक नहीं समझा गया। इसीप्रकार रज्जु में सर्प की भ्रन्ति होजाना, किंवा स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति होजाना यह दृष्टान्त भी यहाँ काम नहीं दे सकते। यदि हम ज्ञान को कर्म्म बतलाते, किंवा कर्म्म को ज्ञान बतलाते, तो इन दृष्टान्तों का आंशिक रूप से उपयोग होसकता था। क्या सर्प, और रज्जु, दोनों ही सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं हैं ?। सर्प को रज्जु मान बैठना तो ज्ञान को कर्म्म मानने के समान है।

——— * ———

४७ जगन्मिथ्यात्ववादी के पञ्चम--'मृगमरीचिका' दृष्टान्ताभास का वास्तविक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना 'मिथ्यात्व-धारणा' का निराकरण--प्रयास—

५—मृगमरीचिका भी इस सम्बन्ध में व्यर्थ ही है। पानी की अम्भः--मरीचिः-मरः-आपः--ये चार जातियाँ हैं। इनमें सौररश्मियों में प्रतिष्ठित बाष्परूप तेजोमय पानी का ही नाम "मरीचि" है। वही सूक्ष्म-पानी रश्मियों के द्वारा पृथिवी से टकरा कर ऊपर जाते हुए वीचि (तरङ्ग) रूप में परिणत दिखलाई देते हैं। यह पानी की मूलावस्था है। इसी आग्नेय मरीचिपानी के संघर्ष से पेयजल (वृष्टिजल) उत्पन्न होता है-"अग्नेरापः"। मृग पशु है। उसे यह विवेक नहीं है कि, यह मरीचि, किंवा मरीचिकापानी पेय नहीं है। अतएव स्थूल पानी की भ्रान्ति से वह उधर दौड़ पड़ता है। क्या मनुष्य और पशु ज्ञान के समान धरातल पर प्रतिष्ठित माने जाएँगे ?। क्या पशु की भ्रान्ति मनुष्यज्ञान की भ्रान्ति का दृष्टान्त बन जायगा ?। नहीं, तो फिर इस दृष्टान्त का भी इस सम्बन्ध में क्या मूल्य है ?।

——— * ———

४८-'सत्य',--और 'मिथ्या'--भावों के साहचर्य्य के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन, एवं विश्व की मिथ्यारूपता के सम्बम्ध में मिथ्यावादी को उद्बोधन-प्रदान-प्रयास—

६—"सत्य और मिथ्या का साहचर्य्य नहीं होसकता" यह उदाहरण तो तब ठीक बन सकता था, जबकि हम केवल ज्ञान को तो सत्य मानते, एवं कर्म्म को मिथ्या मानते। हम तो "नामरूपे सत्यम्" के अनुसार कर्म्ममय विश्व को भी सत्य मानते हुए उस का सत्यज्ञान के साथ सम्बन्ध बतला रहे हैं। क्या आप प्रस्थानत्रयी में एक भी ऐसा वाक्य बतला सकेंगे, जिस से विश्व, किंवा कर्म्म का मिथ्यात्व सिद्ध होता हो ?। उधर विश्वकर्म्म की सत्यता के उपोद्बलक अनेक प्रमाण उद्धृत किए जासकते हैं।

४९-सत्यानृतविवेक के माध्यम से वास्तविक--स्वरूप--स्थिति का समन्वय-प्रयास—

अथवा स्थूलदृष्टि से ही विचार कीजिए। सत्य और मिथ्या दोनों विरूद्ध हैं, मान लिया। परन्तु इसके साथ साथ आप को यह भी मानना पड़ेगा कि, प्रत्येक सत्य अपने गर्भ में मिथ्याभाव को लेकर ही व्यवहार में उपयुक्त होता है। विशुद्ध सत्य अव्यवहार्य्य है। इसी आधार पर वेद ने मनुष्य को 'अनृतसंहित'

माना है । मनुष्य कभी शुद्ध सत्य का प्रयोग नहीं कर सकता । उसका प्रत्येक सत्यभाषण मिथ्याभाव से युक्त रहेगा, जैसाकि पूर्व के कर्म्मयोगपरीक्षाप्रकरण के आरम्भ में-"सत्यानृतविवेक" करते समय स्पष्ट कर दिया गया है ।

----*----

५०-परस्परात्यन्त विरुद्ध भी पाप-पुण्यों के सहावस्थान से अनुप्राणिता स्थिति के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय-प्रयास—

७—"परस्पर अत्यन्त विरुद्ध पाप-पुण्य एक स्थान पर नहीं रहते" यह भी निर्मूल उदाहरण है । शुभोदर्क पुण्य है, अशुभोदर्क पाप कहलाता है । श्वःश्रेयस् नाम से प्रसिद्ध शुभकर्म्मों से शुभोदर्क-लक्षण पुण्यातिशय उत्पन्न होता है, एवं एनः नाम से प्रसिद्ध अशुभ कर्म्मों से अशुभोदर्कलक्षण पापाशय उत्पन्न होता है, जैसाकि पूर्व के कर्म्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

५१-'उभे पुण्यपापे विधूय' श्रुतिमूलक-तथ्य का स्वरूप-समन्वय, एवं मुक्तिपथ में दोनों का विधूनन —

शुभकर्म्मों में भी दोषमात्रा विद्यमान है । अशुभकर्म्मों में भी गुण का अनुषङ्ग है, जैसाकि "सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है । फलतः गुणभाव पुण्याशय का, एवं दोषभाव पापाशय का कारण बनता है । फलतः पुण्य में पाप का, पाप में पुण्य का सहभाव सिद्ध होजाता है । न पुण्य विशुद्ध गुण है, न पाप विशुद्ध दोष है । पुण्य में भी दोष है, पाप में भी गुण है । इसीलिए तो "उभे पुण्यपापे विधूय" यह कहती हुई श्रुति मुक्तिपथ में दोनों का विधूनन (परित्याग) बतला रही है ।

---*----

५२-ज्ञान, तथा कर्म्म से अनुप्राणिता समन्वयमूला शान्ति का स्वरूप-संस्मरण—

८—दो शत्रुओं का मैत्रीभाव नहीं होसकता, यह ठीक है । परन्तु ज्ञान और कर्म्म में परस्पर शत्रुता है, यह तो सिद्ध कीजिए । क्या विजातीयतताता ही शत्रुता का मूल्य है । तब तो ज्ञानानुगामी एक ब्राह्मण पुरोहित, एवं कर्म्मानुयायी एक क्षत्रिय राजा में परस्पर घोर शत्रुता होनी चाहिए थी । क्योंकि दोनों वर्ण से भी विजातीय हैं, एवं कर्म्म से भी विजातीय हैं ? । ठीक इसके विपरीत हम तो श्रुति का यह आदेश देखते हैं कि-दोनों का समन्वय ही शान्ति का कारण है । (देखिए शत० ४।५।२) ।

५३-अनुकूल-बन्धन, प्रतिकूल-बन्धन-भेदनिबन्धन-सम्बन्ध-द्वैविध्य का संस्मरण—

अथवा थोड़ी देर के लिए हम यह भी मान लेते हैं कि, ज्ञान-और कर्म्म में परस्पर शत्रुता है । परन्तु क्या दो शत्रुओं का समन्वय नहीं होता ? । हम तो कहेंगे, शत्रुओं का जैसा समन्वय होता है, वैसा तो मित्रों का भी नहीं होता । शत्रुओं के मानस पटल पर एक दूसरे का चित्र उपास्य देव की भाँति सदा सर्वदा स्वचित रहता है । बन्धन ही समन्वय है, फिर वह अनुकूल बन्धन हो, अथवा प्रतिकूल । विवाद अनुकूल प्रतिकूलता से न होकर समन्वय असमन्वय से है । और वह शत्रुओं में भी विद्यमान है ।

---**---

५४–उपहासास्पद 'आग', और 'पानी' का उदाहरण, एवं अग्नि, तथा आपः के घनिष्ठ मैत्रीसम्बन्ध का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना-'अपांगम्भन्त्सीद' श्रुति का संस्मरण—

९—आग-पानी का उदाहरण तो और भी उपहासास्पद है। स्थूलबुद्धियों नें पानी से आग को बुझता देखा, प्रवृद्ध अग्नि से पानी को वाष्परूप में परिणत होकर विलीन होते देखा, तत्काल कह बैठे कि-आग पानी में बैर है। परन्तु विज्ञानदृष्टि कहती है, आग और पानी में जैसी मित्रता है, सम्भवतः वैसी मैत्री संसार में और किसी की नहीं होगी। **"अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात"** इस वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार पानी में जो बहाव देखा जाता है, वह एकमात्र अग्नि के आत्मसमर्पण-लक्षण मैत्रीभाव की ही महिमा है, जैसा कि कर्म्मपरीक्षान्तर्गत **धर्म्मभेद** प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अग्नि ही अन्तर्य्याम सम्बन्ध से पानी में प्रविष्ट होकर पानी को द्रुत बनाए हुए है। इसीप्रकार पानी को जब हम गरम करते हैं, तो वह पानी अग्नि को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उष्ण पानी के अणु अणु में अग्नि व्याप्त होरहा है। कौन कहता है कि, दोनों एक साथ नहीं रहते, एवं नहीं रह सकते। सूर्य्य आग का गोला है, एवं— **"अपां गम्भन्त्सीद"** के अनुसार वह आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित होकर ही विश्वशान्ति का कारण बन रहा है।

———*———

५५–विरुद्ध-अनेक-पदार्थों के पारस्परिक समन्वय से अनुप्राणिता विश्वसत्ता का स्वरूप-समन्वय, तथा शून्य, और पूर्ण-भावों के विजृम्भण-माध्यम से ही विश्व के स्वरूप की सम्भाविता स्वरूप-स्थिति का दिग्दर्शन—

अनेक विरुद्ध पदार्थों का समन्वय ही विश्वसत्ता का कारण है, एवं यही हमारी सत्ता का कारण है। पृथिव्यादि पाँचों भूत परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। परन्तु पाँचों का एक ही शरीर में समन्वय होरहा है। साथ में जबतक इन पाँचों का समन्वय है, तभीतक शरीर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। वात-पित्त-कफ तीनों धातुओं की आवासभूमि एक है। तीनों की साम्यावस्था ही शान्ति का करण मानी गई है। काम-क्रोधादि सूक्ष्म शरीर के ६ ओं धातुओं के समन्वय का कौन विरोध कर सकता है ?। विद्या-अविद्या (कर्म्म) नाम के दो धातुओं का सहावस्थान ही तो आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा है। सम्भूति और विनाश, दोनों का धरातल एक है, जैसाकि- **"विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह"-"सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह"** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तों से स्पष्ट है। **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"** इस श्रुति का विरोध किस युक्ति से किया जायगा !। **शून्य-पूर्ण** का विजृम्भण ही तो विश्व, एवं विश्वात्मा है।

५६–धर्म्मशास्त्रोक्त साहसदण्ड के अधिकारी जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तव्याख्याता, एवं विश्वरूपिणी महामाया चिच्छक्ति जगदम्बरूपिणी आद्या शक्ति की सद्रूपता से अपरिचित ये मायावादी—

इसप्रकार कल्पित ज्ञानवादी स्वपक्ष के समर्थन के लिए जिन हेत्वाभासों के आधार पर कर्म्ममार्ग का उच्छेद करने का साहस करते हैं, वे अवश्य ही **धर्म्मशास्त्रोक्त-साहसदण्ड** के अधिकारी माने जायँगे।

कर्म्म असत् है, मायिक है, यह ठीक है। परन्तु असत् का अर्थ अभाव है, मिथ्या है, यह किस आधार पर मान लिया गया ?। क्या अभावरूप असत् का भावरूप सत् के साथ बन्धन (समन्वय) सम्भव है ?। यदि असत् कोई वस्तु नहीं होती, तो कभी वैज्ञानिक उस असत् का सत् के साथ समन्वय नहीं मानते, जैसाकि–"सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। जिस माया का अर्थ वे पुरुषपुङ्गव मिथ्या समझते हैं, आर्षपरम्परा में वह माया भी वस्तुसत् ही मानी गई है। देखिए !।

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी॥
यच्च किञ्चिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः, सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥

५७-त्रयीविद्यामयी महामाया के सद्भावापन्न महामाङ्गलिक-स्वरूप-का संस्मरण—

माया को अविद्या बतलाया जाता है, यह कैसी भ्रान्ति है। जिस माया के अनुग्रह से हरिहरादि स्व-व्यापार करने में समर्थ होते हैं, जो माया ज्ञानप्रधान देवबल की अधिष्ठात्री है, जो जगदम्बा विश्वस्थिति-रक्षण-संहार-कारिणी है, उस विद्यामयी सर्वव्याप्ता, सनातनी माया को अविद्या, किंवा मिथ्या शब्द से व्यवहृत करते हुए क्या उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता ?। माया क्या है ?, सुनिए !

विद्यासि सा भगवती परमाहि देवी शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानम्।
उद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नां देवी त्रयी भगवती भवभावनाय॥

५८–कल्पित ज्ञानाद्वैतवाद, एवं तदनुप्राणित कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद का निःसारत्व, कर्म्ममार्ग की अनिवार्य्यावश्यकता, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् के विस्पष्टतम उद्घोषों का पावन-संस्मरण—

इन्हीं सब विस्पष्ट कारणों से हम कह सकते हैं कि, इन कल्पित वेदान्तियों के ज्ञानवाद का, एवं तन्मूलक जगन्मिथ्यात्ववाद का कोई महत्त्व नहीं है। ज्ञान भी आत्मा है, कर्म्म भी आत्मा है। यदि प्रवृत्तिभाव के कारण कर्म्म बन्धन का कारण बनता है, तो इसी प्रवृत्तिभाव के कारण अज्ञानावृत ज्ञान भी मोह का जनक बनता हुआ बन्धन का कारण है। प्रातिस्विक स्वरूप से आत्मज्ञान–आत्मकर्म्म दोनों निर्म्मल हैं, दोनों एक दूसरे के आलम्बन बने हुए हैं। आगन्तुक दोषों से ज्ञान–कर्म्म दोनों का स्वरूप विकृत है। सच पूँछो, तो कर्म्म का तो आगन्तुक दोषों से भी कुछ बनता बिगड़ता नहीं। दोष का संक्रमण भी ज्ञान पर ही होता है। अज्ञान के सहयोग से कर्म्मविकास दब जाता है। ज्ञान से ही कामना का उदय होता है, एवं यह कामना ही कर्म्मजनित संस्कार को लेकर आत्मबन्धन का का कारण बनती है। इस दृष्टि से बन्धन का सम्पूर्ण दोष ज्ञान के ही मत्थे मँढना उचित है। कर्म्म छोड़ देने से आगे संस्कार न होंगे, यह मान भी लिया जाय, तब भी ज्ञान-जनित-कामना से अबतक जो संस्कार होगए हैं, जिन से कि आत्मप्रकाश वञ्चित होरहा है, उन्हें आप किस उपाय से हटावेंगे ?। आपके मतानुसार ज्ञान सर्वथा निष्क्रिय है। अतएव वह स्वयं तो उन्हें हटाने में असमर्थ

रहेगा, और कर्म्म आप करेंगे नहीं। पड़े रहिए आप्रलयान्त बन्धन में। इस दृष्टि से भी कर्म्मकर्त्तव्यता आवश्यककोटि में हीं माननी पड़ती है–**"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"**। और फिर कर्म्म छोड़ने का अभिमान भी तो मिथ्या है। ज्ञानवत कर्म्म को भी अपना स्वरूपधर्म्म बनाने वाला आत्मा कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है–**"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्–कार्यते ह्यवशः कर्म्म"–"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः"**।

५९–'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' रूप दार्शनिक-सिद्धान्त के माध्यम से विश्व की स्वरूप-स्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अच्छा जाने दीजिए–संचित संस्कारों की बात। संस्कारबन्धन का कारण आपने कर्म्म को समझ लिया है, इसी के साथ हमारा विरोध है। कर्म्म संस्कार अवश्य उत्पन्न करता है। परन्तु आत्मा के साथ इनका बन्धन करना न कर्म्म का काम है, न संस्कार का। बन्धन का एकमात्र कारण है–आसक्ति। आसक्ति का एकमात्र कारण है–कामना। कामना का एकमात्र जनक है–ज्ञान–**"ज्ञानजन्येभवेदिच्छा"**। वही ज्ञान आपका आत्मा है। लीजिए जिस कर्म्म, एवं कर्म्मजनित संस्कार को श्रीमान् बन्धन का कारण मान रहे थे, वे दोनों तो धरे रह गए, एवं जिस आत्मज्ञान को श्रीमानोंनें बन्धनमुक्ति का कारण मान रक्खा था, वही कारयिता बनता हुआ बन्धन का कारण बन गया। अब बतलाइए, कर्म्म एवं तज्जन्य संस्कार बन्धन के कारण हैं, किंवा ज्ञानजन्या कामना बन्धन का कारण है ?।

६०–कामना-प्रवृत्ति-कर्म्म, और तद्बन्धन, आदि के माध्यम से कर्म्ममार्ग का नीर-क्षीर-विवेक-प्रयास—

जब यह सिद्ध है कि, कामना बन्धन का मूल है, तो एक दुर्घटना और घटित होती है। कर्म्म में प्रवृत्ति रक्खी, परन्तु कामना से निवृत्ति रक्खी, तब तो बन्धन नहीं होगा। परन्तु कर्म्म छोड़ दिया, कामना की चर्वणा होरही है, तो अप्राप्त संस्कार के साथ भी इस कामना का उसीप्रकार बन्धन होजायगा, जैसे कि अप्राप्त फल की काममयी कल्पना मात्र से उस फल के साथ आत्मा का बन्धन होजाता है। इस दृष्टि से तो फलासक्तिमूला कामना छोड़ता हुआ एक बुद्धियोगी कर्म्म करता हुआ भी अकर्त्ता है, वादी के अनुसार बन्धन-मूलभूत कर्म्मप्रपञ्च में रत रहता हुआ भी निर्मुक्त है। ठीक इसके विपरीत फलासक्तिमूला कामना रखता हुआ सर्वकर्म्मों का परित्याग करता हुआ भी वह ज्ञानाभिमानी कर्त्ता है, बन्धन से युक्त है। परिणाम यह निकला कि-

६१–कर्म्मपरित्यागाभिमानी ज्ञानयोगी, और तद्दशा, किंवा दुर्दशा का नग्न-चित्रण, एवं भगवान् केशब्दों में हीं वास्तविक-स्थिति का स्पष्टीकरणात्मक-समन्वय—

कर्म्म का परित्याग करने वाला ज्ञानयोगी न तो बन्धनमूलक सञ्चित संस्कारों से पीछा छुड़ा सका। एवं न कामना के प्रभाव से बिना भी कर्म्म के बन्धन में डालने वाली फलासक्ति से अपनी रक्षा कर सका। उधर बुद्धियोगीने कामना-परित्यागलक्षण निष्कामकर्म्म से सञ्चित संस्कारों का भी परिमार्ज्जन कर दिया, एवं फलाभिसन्धि के अभाव से क्रियमाण कर्म्म, एवं तज्जन्य संस्कारों का लेप भी नहीं हुआ। सब से बड़ी बात तो

यह हुई कि, कर्म्म किया, संस्कार हुए, उन का उत्तम फल भी मिल गया, परन्तु आसक्ति के अभाव से बन्धन नहीं हुआ । उधर कर्म्म छोड़ा, संस्कार बच गए, फलाभिसन्धि से संस्कारबन्धन का स्रोत प्रवाहित रहा, कर्म्माभाव से फल कुछ मिला नहीं । शून्यं-शून्यं रह गए । इसी स्थिति का विस्पष्ट दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १ ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ॥
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ २ ॥
युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ३ ॥
सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ ४ ॥

६२–शुष्ककलहोपराम, एवं संशोधिता सांख्यनिष्ठात्मिका ज्ञानयोगनिष्ठा का संस्मरण–

जाने भी दीजिए इस शुष्क कलह को । कौन क्या कल्पना करते हैं ? इस पराधिकारचर्चा में हम अपने पाठकों का समय नष्ट नहीं करना चाहते । गीता ज्ञानयोग के सम्बन्ध में क्या कहती है ?, दूसरे शब्दों में गीताज्ञानाविर्भावकाल से भी पहिले आविर्भूता, हिरण्यगर्भसम्मता योगयुक्ता सांख्यनिष्ठा का भगवान् ने किस संशोधन के साथ गीता में संग्रह किया है ?, यही विचार अपेक्षित है, एवं इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह प्रकरण आपके सामने आया है ।

६३–गीताप्रतिपादिता सांख्यनिष्ठा, तथा योगनिष्ठा के पारिभाषिक-स्वरूपों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक आवेदन—

लोकप्रचलित कर्म्ममार्ग का संशोधित स्वरूप यद्यपि संक्षेप से पूर्वप्रकरण में बतलाया जाचुका है, तथापि ज्ञान–कर्म्म के नित्य सम्बन्ध की अपेक्षा से इस ज्ञानप्रकरण में भी उस का स्पष्टीकरण आवश्यक होजाता है । पाठक यह न भूले होंगे कि, कर्म्मयोगोपसंहारप्रकरण में हमनें सांख्य-एवं योगनिष्ठाओं के लोकप्रचलित स्वरूपों पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हुए यह कहा था कि, ये दोनों ही निष्ठाएँ एक जटिल समस्या है । एवं गीता के बुद्धियोग को यथावत् हृदयङ्गम करने के लिए उन दोनों निष्ठाओं का वह प्रचलित रूप भलीभाँति लक्ष्य में रखना चाहिए । इसीप्रकार आज हम यह भी कह देना आवश्यक समझते हैं कि, गीता में परिगृहीत दोनों निष्ठाओं के संशोधितरूपों को भी लक्ष्य में रखना चाहिए । तभी गीता का वास्तविक मत (जो कि वैराग्यबुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध है) हृदयङ्गम होसकेगा ।

६४–सांख्य--कर्म्म--भक्ति--नामक लोकप्रचलित तीन योगों के संशोधित-ज्ञानबुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-नामक योगों का नाम-संस्मरण—

लोकप्रचलित सांख्य–कर्म्म–भक्ति ये तीनों निष्ठाएँ तो सर्वथा अनुपादेय हैं। हाँ, भगवान्नें इन तीनों का संशोधन कर जो गीताशास्त्र में समावेश कर लिया है, जो कि तीनों निष्ठाओं के संशोधित रूप गीता की परिभाषा में क्रमशः ज्ञानबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार गीताचार्य्य के इस संशोधन की कृपा से इन परमतों के हेय-उपादेय दो दो रूप होजाते हैं। गीता का अपना सिद्धान्त, भगवान् का अपना मत यद्यपि तीनों उपादेय-निष्ठाओं से भी स्वतन्त्र है, परन्तु लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकसंग्रह की दृष्टि से उन संशोधनों का भी गीता में समावेश कर लिया है।

६५-संशोधिता-योगत्रयी से अनुप्राणिता विभिन्ना तीन परीक्षाओं का नामस्मरणात्मक-स्वरूप--समन्वय—

कर्म्म–ज्ञान–भक्ति इन तीनों परीक्षाप्रकरणों का मुख्य उद्देश्य था–उन संशोधित रूपों का (धर्म्म-बुद्धियोग–ज्ञानबुद्धियोग–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगों का) स्वरूप परिचय। इस दृष्टि से यद्यपि इन तीनों प्रकरणों को क्रमशः **"धम्मबुद्धियोगपरीक्षा"–"ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा"–"ऐश्वर्य्यबुद्धियोगपरीक्षा"** इन नामों से ही व्यवहृत करना चाहिए था। एवं इसी दृष्टि से भक्तियोगपरीक्षा के आगे आने वाले **"बुद्धियोगपरीक्षा"** प्रकरण को भी **"वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा"** इसी नाम से व्यवहृत करना चाहिए था। परन्तु ऐसा न कर हमनें एक विशेष कारण से इन चारों प्रकरणों के क्रमशः **"कर्म्मयोगपरीक्षा"--"ज्ञानयोगपरीक्षा"--"भक्तियोग-परीक्षा"--"बुद्धियोगपरीक्षा"** ये ही शीर्षक रखना आवश्यक समझा है।

६६–योगत्रयी से विभिन्न, भगवत्सम्मत--चतुर्थ 'वैराग्यबुद्धियोग' का नामसंस्मरण—

पहिले स्वतन्त्र दृष्टि से उस कारण का विचार कीजिए। इन परीक्षा–प्रकरणों में हमनें केवल गीताभिमत संशोधित, अतएव उपादेय रूपों का ही निरूपण नहीं किया है। अपितु हेयरूपों का भी इन प्रकरणों में स्पष्टीकरण हुआ है। इन के समावेश से ही इन्हें **"धर्म्मबुद्धियोग"** आदि संशोधित नामों से व्यवहृत नहीं किया गया। उधर चौथे प्रकरण में (वैराग्यबुद्धियोगप्रकरण में) वैराग्यबुद्धियोग के साथ साथ तीनों संशोधित बुद्धियोगों का भी दिग्दर्शन कराया गया है, अतः उसे **"वैराग्यबुद्धियोग"** केवल इसी नाम से व्यवहृत करना ठीक नहीं समझा गया।

६७ बुद्धिभेद का अर्गलात्मक गीताशास्त्र, एवं–'न बुद्धिभेदं जनयेत्' का पावन-संस्मरण—

अब गीता की दृष्टि से विचार कीजिए। गीताशास्त्र का मूल उद्देश्य है–वैराग्यबुद्धि का संस्करण। परन्तु भगवान् के सामने उस समय लोक में (सर्वथा हेय) कर्म्मादि तीनों निष्ठाएँ भी प्रचलित थीं। एक तो भगवान् बुद्धिभेद को बुरा समझते थे, क्योंकि बुद्धिभेद लोकसंग्रह का विघातक बन जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उक्ति से स्पष्ट होजाता है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ॥

६८–लोकसंग्राहक भगवान् के महान् उद्‌बोधकसूत्र 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' का विभिन्न-दृष्टियों से स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

कर्म्मफलप्रेप्सुओं को यदि यह कहा जाय कि, तुम फलकामना का परित्याग करदो, नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश होजायगा, तो परिणाम इसका यह होगा कि, ज्ञानविकास के अभाव से इस आदेश का इन पर कोई असर न होगा । चिरकालिक फलाभ्यास के अनुग्रह से सहसा इनका मन फलकामुकता को नहीं छोड़ सकेगा । हाँ, कर्म्म अवश्य छोड़ देंगे । यथार्थ है । वह वैश्य, जो रात दिन अर्थसञ्चय में प्रवृत्त रहता है, केवल इस अभिलाषा से कि—"यदि मैं ब्राह्मण भोजन कराऊँगा, तो बड़ा पुण्य होगा, हरिकथा से स्वर्ग-मिलेगा, दान से परलोक में फल मिलेगा" यदि अपना थोड़ा बहुत समय इन शुभ कर्म्मों में लागा वेगा तो—"इन फलों से तो आत्ममुक्ति कभी सम्भव नहीं" यह सुनकर अपना रहा सहा शुभकर्म्म भी वह छोड़ बैठेगा । भौतिक विश्व में अधिकांश में उक्त वैश्य समकक्ष मनुष्यों का ही प्राचुर्य्य है । फलतः समाज का यह बहुत बड़ा भाग फल की ओर से निराश होता हुआ इन शुभकर्म्मों को छोड़ बैठेगा । कुछ तो फलत्यागोपदेश को निरर्थक समझ कर ओर भी अभिनिवेश से फलाभिमुख कर्म्मों में प्रवृत्त होजाएँगे, एवं कुछ एक महानुभाव फलत्याग में अपने आपको असमर्थ पाते हुए कर्म्म ही छोड़ बैठेंगे । तब करना क्या चाहिए ?, वह ऐसा कौनसा उपाय है कि, वे भली आदमी कर्म भी न छोड़ें, साथ ही क्रमशः इनका मन फलासक्ति की ओर से भी हटाता रहे । बस—"न बुद्धि जनयेत्"० से भगवान् ने वही उपाय हमारे सामने रक्खा है ।

६९–शनैः शनैः सुधार के पक्षपाती लोकसंग्राहक-भगवान्, और उन का गीताशास्त्र—

उक्त उपाय का अभिप्राय यही है कि, यदि एक अबोध बालक को तुम सत्कर्म्मों में प्रवृत्त रखना चाहते हो, तो उसका शासन ताड़न मत करो । स्मरण रक्खो-उसके पास भी मन है । एवं मन स्वतन्त्रता का पक्षपाती है । तुम्हारा बलात्कार उसे ओर भी अधिक उच्छृंखल बना देगा । करो यह, कि-तुम स्वयं वैसे कर्म्मों का आचरण करने लग जाओ । तुम्हारे पास ज्ञान (बुद्धिबल) है । तुम अपना नियन्त्रण कर सकते हो । तुम्हारे आचरण से बालक क्रमशः आकर्षित होजायगा । कालान्तर में आदत सुधर जायगी ।

७०–बुद्धियोगनिष्ठ के सहयोग-प्रदान से ही लोकसंग्रह का स्वरूप-संरक्षण, अतएव सामाजिक-व्यवस्था-स्वरूप-संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में कतिपय लौकिक-उदाहरणों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

फलाभिमुख समाज विद्वान् नहीं है । अपनी मूर्खता से ही वह फलपाश में बँधा जारहा है । इनके अभ्युदय का भार उन विद्वानों के कन्धे पर है, जो कि ज्ञानकर्म्म का तात्त्विकदृष्टि से परीक्षण कर चुके हैं । इन विद्वानों को ही आगे बढ़ना चाहिए । स्वयं हरिकथा, दान, भोजन, श्राद्धादि कर्म्म करने चाहिए, एवं उन व्यक्तियों के कर्म्मों में "तुम बड़ा अच्छा कर रहेहो" कहते हुए पूरा सहयोग देना चाहिए । यदि

इस सहयोग के स्थान में विद्वान् उनकी निन्दा करने लगेंगे, यदि उनकी भर्त्सना करने लगेंगे, तो अवश्य ही उनमें बुद्धिभेद उत्पन्न होजायगा, लोकसंग्रह बिगड़ जायगा। उन कर्म्मसङ्गियों के कर्म्म में स्वयं असंग बने हुए सहयोग देते रहना ही उन्हें असङ्ग बनाने की प्रधान–चिकित्सा है। वे जब यह देखेंगे कि, हमारे प्रत्येक कर्म्म में पूर्ण सहयोग रखते हुए भी ये विद्वान् सदा शान्त–निर्म्मय–निरहङ्कार–निर्लेप–दिखाई देते हैं, उधर उन्हीं कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए हम सदा "यह नहीं-वह नहीं" के अशान्त वातावरण में पड़े रहते हैं, तो अवश्य ही इसमें कुछ कारण होगा। फलतः उनमें जिज्ञासा जाग्रत होगी, उनकी सेवामें प्राणतभाव से वे आवेंगे, और उस जिज्ञासाधरातल में वे ज्ञानी अपने उसी निष्कामकर्म्मोपदेशरूप बीज का वपन करेंगे—**"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"**। असंग कर्म्माचरण का प्रभाव ही पहिले तो उनकी फलकामनामयी मनोवृत्ति को शिथिल कर देगा। रही सही कमी तत्त्वोपदेश से पूरी होजायगी। कहीं ऐसा न हो कि, विद्वान् भी उन कर्म्मसङ्गियों के साथ सहयोग देता हुआ कर्म्मसङ्गी बन जाय, इसी विभीषिका से आगे जाकर भगवान् को—**"विद्वान् युक्तः समाचरेत्"** यह कहना पड़ा है। युक्तः का तात्पर्य्य–**"बुद्धियोगयुक्तः"** (स्वयमसक्तः–सन्–परकर्म्मणि सहयुक्तः) ही है।

७१–'यद्यदाचरति श्रेष्ठः',–तथा–'तानकृत्स्नविदो मन्दान्'–इत्यादि महत्त्वपूर्ण लोकसंग्राहक–सूत्रों का प्रासङ्गिक–स्वरूप–समन्वय प्रयास—

बुद्धिभेद के अतिरिक्त लोकसंग्रह का विरोध भी भगवान् की दृष्टि में ठीक नहीं था। इन्हीं दो प्रधान कारणों से भगवान् ने तीनों निष्ठाओं का भी संग्रह करना आवश्यक समझा। एवं इन तीनों संशोधित रूपों पर साधारण जनसमाज कैसे चले, इसका भार बुद्धियोगी विद्वानों के कन्धों पर डाला। विद्वानों को आदेश दिया कि, सावधान! कहीं तीनों को बुरा बताते हुए बुद्धिभेद, एवं लोकसंग्रह का विघात न कर बैठना। प्रवृत्तिकर्म्म, कर्म्मशून्य ज्ञानी, ईश्वरफलप्राप्तिपरायण भक्त तीनों के साथ सहयोग रखते हुए स्वयं असङ्ग रूप से तीनों का आचरण करना। तुम समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति हो, तुम पर समाज श्रद्धा करता है, तुम्हारी वाणी का कुछ मूल्य समझता है। बस तुम स्वयं असंगबुद्धि से आचरण करते रहो, देश–पात्र–लोक–की योग्यता को लक्ष्य में रखते हुए समय समय पर उन सङ्गियों को तत्त्वोपदेश के द्वारा असंगभाव की ओर आकर्षित करते रहो। तुम्हारा प्राथमिक सहयोग, द्वितीय स्वयं असङ्गभाव से आचरण, तृतीय सामयिक तत्वोपदेश, सब मिल कर कालान्तर में उन कर्म्म–ज्ञान–भक्ति सङ्गियों को भी एक दिन अवश्य ही असङ्ग बना डालेंगे। इसी आदेश का भगवान् ने—**"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते"** इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है। **"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्"** भी इसी का स्पष्टीकरण है।

७२–लोकसंग्रह–संरक्षण–पूर्वक ही बुद्धियोग निष्ठा का संरक्षण–प्रयास, एवं संशोधित योगानुगता योगत्रयी के लोकप्रचलित–नामों का ही भगवान् के द्वारा स्वरूप–समन्वय–संरक्षण–प्रयास—

लोकसंग्रह की रक्षा अवश्य हुई। परन्तु फिर भी भगवान् का पक्षपात वैराग्यलक्षण बुद्धियोग की ओर ही रहा। और ऐसा होना भी न्यायप्राप्त था, जबकि गीतोपदेश का मुख्य–लक्ष्य ही यह था। इसी पक्षपात

को सुरक्षित रखने के लिए भगवान् ने कर्म्म-ज्ञान-भक्ति, तीनों को बुद्धियोग नाम से व्यवहृत न कर कर्म्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग, इन्हीं नामों से व्यवहृत किया। एवं बुद्धियोग शब्द से केवल परमप्रिय वैराग्य-ही सम्बोधित हुआ। गीता में जहाँ जहाँ "योग" शब्द प्रयुक्त है, सर्वत्र वह एकमात्र 'वैराग्यबुद्धियोग' का ही वाचक है। यद्यपि संशोधित कर्म्म-ज्ञान-भक्ति भी योग है, परन्तु "समत्वं योग उच्यते, योगः कर्म्मसु कौशलम्" इत्यादि लक्षणयुक्त समत्व का पूर्ण विकास वैराग्यबुद्धियोग से ही सम्बन्ध रखता है। अतएव योग, एवं बुद्धियोग का अधिकारी एकमात्र यही योग माना गया। इसप्रकार भगवान् ने स्वयं चारों को **कर्म्मयोग-ज्ञानयोग--भक्तियोग--बुद्धियोग** इन्हीं नामों से व्यवहृत किया। परन्तु विवेकियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि बुद्धियोग (वै० बु०) के अतिरिक्त गीता में प्रयुक्त कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोग ही है। तीनों के प्रतिपादक वचनों का समन्वय ही इस विवेक की मूल प्रतिष्ठा है, जैसाकि प्रथम खण्ड के वचननिदर्शन-प्रकरण में उद्धृत होचुका है (देखिए गी० वि० भा० भू० प्रथम-खण्ड)। इस-प्रकार गीता की दृष्टि से भी इन चारों को कर्म्मयोगपरीक्षा-भक्तियोगपरीक्षा-ज्ञानयोगपरीक्षा, एवं बुद्धि-योगपरीक्षा, इन्हीं नामों से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत बन जाता है।

१-कर्म्मयोगपरीक्षा	धर्म्मयोगपरीक्षा (१)
२-ज्ञानयोगपरीक्षा	ज्ञानबुद्धियोगपीक्षा (२)
३-भक्तियोगपरीक्षा	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगपरीक्षा (३)
४-बुद्धियोगपरीक्षा	वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा (४)
व्यवहारदृष्टिमूलक शीर्षक	विवेकदृष्टिमूलक शीर्षक

७३-परमतानुबन्धिनी गीताप्रतिपादिता योगत्रयी, एवं समत्वनिबन्धन 'वैराग्यबुद्धियोग' का संस्मरण, तथा हेय, और उपादेय योगों की स्वरूप-मीमांसा—

उक्त चारों प्रकरणों से आदि के तीन प्रकरणों का परमतों से सम्बन्ध है, दूसरे शब्दों में परमतों का ही संशोधितरूप है, इसीलिए गीता में प्रतिपादित होने पर भी हमने उपसंहार में 'इति **कर्म्मयोगपरीक्षा-प्राचाम्**' यह उद्धृत करना उचित समझा है। कर्म्मयोग के हेयोपादेय दोनों रूप गतार्थ हैं। ज्ञानयोग का भी हेयरूप वहीं उक्तप्राय है। अब उपादेय ज्ञानयोग, एवं हेयोपादेय भक्तियोग, एवं गीताभिमत बुद्धियोग, ये तीन प्रकरण परीक्षणीय रहे हैं। प्रकृत प्रकरण उपादेय ज्ञानयोग का, अगला **भक्तियोगपरीक्षाप्रकरण** हेयोपादेय भक्तियोग का, उस से अगला **बुद्धियोगप्ररीक्षाप्रकरण** स्वमत का दिग्दर्शन कराएगा। यहाँ प्रसंगवश तीनों परमतों के हेयरूपों का, उपादेय रूपों का, एवं स्वमत का तारतम्य उद्धृत कर दिया है। एक ही स्थान में निर्देश करनें से पाठकों को चारों के तारतम्य के विवेक की सुविधा रहेगी—

७४-हेय-कर्म्मयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

"ब्रह्मचर्य्याश्रम में यथाशास्त्र ब्रह्मचर्य्यव्रत का पालन करते हुए द्विजाति समावर्त्तन-संस्कार के अनन्तर स्नातक उपाधि प्राप्त कर, यथाशक्ति गुरु को दक्षिणा देकर गुरुकुल से लौट आवे। घर आकर विवाह-संस्कार के द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करै। अनन्तर आयु के ५० वर्ष पर्य्यन्त गृहस्थाधर्म्मों का यथावत् पालन करता हुआ स्वर्गादि पारलौकिक फलों की कामना से, एवं ऐहलौकिक पुत्र-कलत्र-संतति-वित्तादि भोग्यों की कामना से यथाशास्त्र यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त नाम के वैदिक लौकिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहै। यही इस गृहस्थी का परम-पुरुषार्थ है। एवं यही इस का कर्म्मकाण्ड है।"

इस कामनामय प्रवृत्तिमूलक कर्म्म में वासना-संस्कारलेप से पीछा नहीं छूटता। जन्म-मृत्यु-लक्षण द्वन्द्व प्रवाहित रहता है। समृद्ध ऐसे कर्म्मयोग से समृद्धानन्द अवश्य मिल जाता है, परन्तु आत्मलक्षण, अतएव नित्य शान्तानन्द से यह कर्म्मठ वञ्चित रहता है। यही इस योग की निकृष्टता है। इसी निकृष्टता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं--

कर्म्मयोगनिन्दा—कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म्मफलप्रदाम्॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति॥१॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥२॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके॥
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः॥३॥

——*——

७५-उपादेय-कर्म्मयोग (धर्म्मबुद्धियोग) का स्वरूप-दिग्दर्शन—

"यथावत् ब्रह्मचर्य्याश्रम के पालन के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट गृहस्थी यथाशास्त्र निष्कामभावना से वैदिक लौकिक यज्ञादि-षट्कर्म्म करता रहै। स्वयं कभी यह अभिमान न करे कि, मैं इन का कर्त्ता हूँ। अपितु अपने आप को उस महातन्त्रायी जगदीश्वर का एक अवयवरूप छोटासा तन्त्र समझता हुआ ही, फल एवं कामासक्ति का एकान्ततः परित्याग करता हुआ ही कर्म्म में प्रवृत्त रहै। यही इस गृहस्थी का परम-पुरुषार्थ है। एवं यही इसका सच्चा कर्म्मकाण्ड है।"

इस योग में धर्म्ममूलक प्रकृतितन्त्र की प्रधानता है। अतएव यह कर्म्मठ कर्म्म करता हुआ भी कर्म्मतन्त्र से (कर्म्मबन्धन से) बहिर्भूत होता हुआ स्वतन्त्र रहता है। फलप्राप्ति पर इसे हर्ष नहीं होता, अप्राप्ति में क्षोभ नहीं होता। सदा शान्ति बनी रहती है। यही समत्वलक्षण धर्म्मबुद्धियोग है। यही योग आगे-जाकर इसकी परामुक्ति का कारण बन जाता है। इसप्रकार समृद्धि के साथ साथ यह शान्ति का भी अधिकारी बन जाता है। इसी उत्कृष्टता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् करते हैं—

कर्म्मयोगस्तुतिः—तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ-तपः-क्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥१॥
यज्ञ-दान-तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ॥
यज्ञो-दानं-तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥२॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥३॥

—:*:—

७६–हेय–भक्तियोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

(क)—गृहस्थाश्रम समाप्त कर गृहस्थी अदार, अथवा सदार अरण्य में चला जाय। वहाँ तपःसंयम-इन्द्रिय-प्रणिधान आदि कायक्लेशात्मक योगों में प्रवृत्त रहै। यह योग ही इसकी उपासना, किंवा भक्ति है। इस योगात्मिका उपासना से चित्तवृत्ति का निरोध होगा, सत्त्वशुद्धि होगी, सगुणब्रह्म का साक्षात्कार होगा। संसार के प्रपञ्चों से यह उपासक कोई सम्बन्ध न रक्खे। अग्निहोत्रादि का परित्याग करदे। फल–पर्ण–वात–अम्बु–भक्षी बना रहै। पञ्चाग्नितप करै। इस भक्ति का फल होगा अपरामुक्ति। इसप्रकार मन्त्र-राज-लय-हठ–चारोंका अनुगामी बनता हुआ यह तपस्वी भक्त भक्तिनिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ होजायगा।

७७–नवीनतम भक्तिमार्ग का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदुपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिद्‌व आवेदन—

(ख)—इसी भक्ति का एक और भी रूप प्रचलित है, जो कि भक्ति नवधाभक्ति नामसे प्रसिद्ध है। यही सुप्रसिद्धा राजयोगलक्षणा भक्तिनिष्ठा है। योगात्मिका भक्ति हिरण्यगर्भनिष्ठा है। यह भक्ति केवल भक्तिनिष्ठा है। योगप्रक्रिया में असमर्थ देख कर महर्षियों के द्वारा सञ्चालित भक्ति का सरलरूप ही आज की भक्ति है। भगवान् की प्रतिमा बनाकर अपना सम्पूर्ण कर्म्म भगदर्पण करदेना, नामस्मरण करना, कीर्त्तन करना, भगवान् के भोग लगाकर प्रसाद पाना, सदा भगवदनुग्रह की अभिलाषा रखना, ये सब इस नवीन भक्तिमार्ग में हीं अन्तर्भूत हैं।

७८–'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा'–मूला सुप्रसिद्धा दो निष्ठाओं का स्वरूप-संस्मरण, एवं भक्तिनिष्ठा की प्राचीनता, अर्वाचीनता के सम्बन्ध में ऊहापोह—

इसे नवीन इसलिए कहा जाता है कि वैदिकयुग में, जिसे कि हम देवयुग भी कह सकते है, ऐसी नवधा-भक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय का भक्तिमार्ग तो चित्तवृत्ति–निरोध-लक्षण सांख्यानुयायी योगमार्ग ही था। वह योग (भक्ति) क्योंकि सांख्यानिष्ठा का उपकारक था, अतएव लोकनिष्ठाओं में भगवान् ने 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा०' इत्यादि रूप से दो ही निष्ठाओं की गणना की है। यदि उस

युग में भी योगलक्षणा भक्ति से अतिरिक्त यह नवीन भक्ति प्रचलित होती, तो अवश्य ही लोकनिष्टाओं में भगवान् उसका भी स्वतन्त्ररूप से निर्द्देश करते। फिर वेदके ब्राह्मणभाग में जैसे कर्म्मनिष्ठा की, आरण्यकभाग में योगात्मिका भक्तिनिष्ठा की, एवं उपनिषद्भाग में सांख्यनिष्ठा की प्रतिच्छाया मिलती है, वैसे अर्च्चन–वन्दन–पादसवेन–आदिलक्षणा इस भक्ति का कहीं तो सूत्रपात रहता । इहीं सब कारणों को देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि, भक्ति का यह रूप वैदिकयुग के बहुत पीछे, ही पुष्पित-पल्लवित हुआ होगा ।

७६–अर्वाचीन भी भक्तिमार्ग की पुरातन–मूलता का समन्वय, भक्तिमार्ग की प्राचीनता का स्वरूप–समन्वय, एवं गीताशास्त्र के द्वारा संशोधित भक्तियोग का संस्मरण—

नवीव का यह अर्थ नहीं है कि, यह भक्तिवाद सर्वथा निर्मूल होगा, एवं कुछ समय से ही पनपा होगा । अवश्य ही इस का मूल भी परम्परया वेदशास्त्र ही है । **'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरण-महं प्रपद्यते'** इत्यादि उपनिषद्-वचन हीं शरणागतिलक्षण इस भक्तिमार्ग का पोषक है । **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** कहने वाला शाण्डिल्यदर्शन भी कम महत्त्व नहीं रखता । रामावतारकाल में हीं इस भक्तिनिष्ठा का पूर्ण विकास होचुका था, जैसाकि शबरी, निषाद, विभीषण, हनुमान आदि की भक्तिनिष्ठा से सिद्ध है । प्रतिमो–पासना का वर्त्तमानरूप भी उसी युग में प्रचलित होचुका था । महाभारत में तो यह भक्तिमार्ग विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुका था । अस्तु, इन सब विषयों का निरूपण आगे के भक्तियोगपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से होने वाला है । यहाँ वक्तव्यांश केवल यही है कि, यह भक्ति लोकनिष्ठाओं के पीछे प्रकट हुई है । अतः हम इसे नवीन ही कहेंगे । महाभारतकालीन गीतोपदेश में उस योगात्मिका भक्ति के साथ साथ भगवान् ने इस का भी संशोधन किया है ।

८०–भक्तियोग–स्वरूप–मीमांसा, ज्ञान वैराग्य से असंस्पृष्ट आज का वेतालचेष्टित भक्तिमार्ग, तन्निबन्धन वर्णाश्रमधर्म्म–विरोध, एवं भक्ति के ताण्डवनृत्यों के कतिपय निदर्शन—

इस भक्ति का स्वरूप सर्वविदित है । अनन्यभाव से इष्टदेवता का अर्चन–भजन करना हीं इस का स्वरूप–लक्षण है । इस भक्ति के मूल में ईश्वरानुग्रह–लक्षणा फलकामासक्ति बैठी हुई है । अतएव इसे हम सकामभक्ति ही कहेंगे । इस सकामभक्ति से सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्य–लक्षणा अपरा मुक्ति प्राप्त होती है । अवश्य ही ईश्वरपरायण सकाम भक्त की ईश्वर सब इच्छाएँ पूरीं कर देते हैं । उसे समय समय पर विपत्ति से बचाते रहते हैं । कहना न होगा कि, आज कर्म्म–और ज्ञान, दोनों का आसन इस नवीन भक्तिमार्गनें हीं छीन रक्खा है । आज भक्तिमार्ग शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म का विरोधी बन रहा है । पूर्वयुग में भक्तिनिष्ठ भक्त वर्णाश्रमकर्म्मों का यथाधिकार पालन करते हुए ही भक्तिमार्ग का अनुसरण करते थे । परन्तु आज तो जिसे देखो, वही भगवान् का प्रिय भक्त बना हुआ है । भक्ति के अभिमानी अस्मदादि जीवोंनें वर्णधर्मों को परिहास की ही सामग्री बना रक्खा है । भक्तिपुत्र ज्ञानवैराग्य का तो लेश भी नहीं है । वेदशास्त्र–पुराण–दर्शन–स्मृति आदि सभी अन्धकार में विलीन हैं । न इन की रक्षा का कोई प्रयास है । एवं न इन के अनुयायी ब्राह्मणवर्ग का इस भक्तिमण्डली में कोई आदर ही है । जिसे देखो, वही उत्पथ भक्ति के बेसुरे राग आलाप रहा है । हम भी लोकसंग्रह की विभीषिका से इन ताण्डवनृत्यों को मुकुलितनयन बन कर देख सुन रहे हैं ।

८१-(२)-उपादेय-भक्तियोग (ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोग) का स्वरूप दिग्दर्शन—

शास्त्रने भक्ति का जो मार्ग बताया है, दम्भ-छल-कपट-अभिमान छोड़ कर निष्कामभाव से उस का अनुगमन करना हीं सच्चा भक्तिमार्ग है। शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्मों का पालन करते हुए विराट्पुरुष की उपासना ही भक्ति है। इस निष्कामभक्ति से ईश्वर की ईश्वरता, किंवा ऐश्वर्य्य का आत्मा में विकास होजाता है। आत्मसंकोच विलीन होजाता है।

८२-हेय, तथा उपादेय-भक्तिमार्गों के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का हस्तक्षेप, एवं उपादेय भक्तिमार्ग का गीता के द्वारा परिग्रहण—

उक्त दोनों भक्तिमार्गों में से भगवान् दूसरे भक्तिमार्ग के ही पक्षपाती हैं। यद्यपि योगात्मिका भक्ति का भी गीता में समावेश अवश्य हुआ है, परन्तु प्रधानता नवीन भक्तिमार्ग की ही है। योगात्मिका भक्ति सांख्य की अनुगमिनी है। एवं कर्म्मत्यागलक्षण सांख्य के भगवान् अन्यतम शत्रु है। तदनुगामिनी योगात्मिका भक्ति भी एकप्रकार से केवल अव्यक्त का अनुगमन करती हुई ज्ञानप्रधाना ही बन रही है। उधर राजयोगात्मक भक्तिमार्ग में कर्म्म का समावेश है। अतएव यही यहाँ प्रधान माना गया है।

८३-निन्दाभाव से असंस्पृष्ट भक्तिमार्ग, एवं गीताशास्त्र, तथा राजयोगात्मिका भक्ति का स्वरूप-संस्मरण—

एक बात और। जिसप्रकार प्रवृत्तिमूलक कर्मयोग की गीता में निन्दा हुई है, वैसे ही इन दोनों भक्तिमार्गों की स्पष्ट शब्दों में निन्दा नहीं की है। कारण यही है कि, योगात्मिका-भक्ति तो सांख्यनिन्दा से ही गतार्थ है। राजयोगात्मिका भक्ति में कर्म्म का संग्रह है, फल भी लौकिक नहीं है, केवल ईश्वरानुग्रह-कामना है, जो कि ईश्वर कामना लौकिक कामनाओं से कहीं उच्च श्रेणि में प्रतिष्ठित है। अतः इस का साक्षाद्रूप से खण्डन करना उचित नहीं समझा गया। अपितु दोनों का संशोधनमात्र ही किया गया। संशोधन में हीं योगात्मिका भक्ति के सम्बन्ध में आंशिकरूप से अरुचि प्रकट की, राजयोगात्मिका भक्ति को विशेष आदर दिया गया। जैसाकि आगे के वचनों से स्पष्ट है।

८४-योगात्मक-भक्तियोग की स्तुति-

(युक्ताः—योगिनः) ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते॥
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलध्रुवम् ॥१॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥
ते प्राप्नुवन्ति-मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥२॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥३॥

—*—

८५-राजयोगात्मक-भक्तियोग की स्तुति—

(युक्ततमाः—भक्ताः)भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ! ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥१॥
मत्कर्म्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ॥
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः समामेति पाण्डव ! ॥२॥
मय्यावेश्य मनो मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेता स्ते मे युक्ततमा मताः ॥३॥

८६-हेयज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वानप्रस्थानश्रम में ज्ञानोपयिक योगमार्ग का अनुष्ठान कर यदि वानप्रस्थाश्रम में दारपरिग्रह था, तो उसे भी छोड़दे। सम्पूर्ण कर्म्मों का (प्रकृति-पुरुष के विवेक के द्वारा पुरुष (आत्मा) को विशुद्ध ज्ञानमय समझता हुआ) एकान्ततः परित्याग करदे। अहोरात्र ज्ञान में हीं निमग्न रहे। यही इस की मुक्ति का अन्यतम द्वार है। जबतक कर्म्म का लेश भी रहेगा, इसका ज्ञानात्मा मुक्त नहीं होसकेगा। यही तीसरा ज्ञानकाण्ड है। इसकी निन्दा से गीताशास्त्र अथ से इति तक परिपूर्ण है, जैसाकि निम्नलिखित कुछ एक वचनों से स्पष्ट होजाता है—

ज्ञानयोगनिन्दा—न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥१॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ॥
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥२॥
नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः ॥३॥

—*—

८७-(३)-उपादेय ज्ञानयोग-(ज्ञानबुद्धियोग) का स्वरूप-दिग्दर्शन—

लौकिक कर्म्मों से उपरत, आत्मकाम, अतएव आप्तकाम संन्यासी का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह अपने ज्ञानकर्म्ममय आत्मा के विकास के लिए पारमर्थिक नियत ज्ञान-कर्म्म का अनुगमन करने के साथ साथ यथाशक्ति लोकसंग्राहक उन कर्म्मों में भी प्रवृत्त रहै, जिनसे कि लोक का उपाकार होता है। संन्यासी सांसारिक बन्धनों से मुक्त है। अतएव एक गृहस्थी की अपेक्षा वह अपनी ज्ञानचिन्ता के साथ साथ समाज की भी अधिक सेवा कर सकता है। वही संन्यासी सच्चा संन्यासी है, वही संन्यास सच्चा संन्यास है, वही सांख्य उत्तम सांख्य है, जिसमें विज्ञान (कर्म्म) युक्त ज्ञान का समावेश रहै। कर्म्मसंग्रहपूर्वक ज्ञान का अनुगमन रहे। यही ज्ञानलक्षण बुद्धियोग है। निम्नलिखित वचन इसी संशोधन का समर्थन कर रहे हैं—

ज्ञानयोगस्तुतिः—अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥२॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ! ॥
न ह्यसंन्यस्त-संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३॥

——*——

८८–(४)–बुद्धियोगात्मक (गीताराद्धान्त) का स्वरूप–दिग्दर्शन—

वर्ण–एवं आश्रम–धर्म्मानुसार यथासमय कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–का निष्कामभाव से अनुष्ठान करते हुए यावज्जीवन लोकसेवामें प्रवृत्त रहो। तुह्मारा कर्म्म, तुह्मारी भक्ति, तुह्मारा ज्ञान तुह्मारे साथ साथ विश्व के अभ्युदय के कारण बनें। माना कि निष्काम–कर्म्म–भक्ति–ज्ञान से तुह्मारा उद्धार होजायगा। परन्तु तुह्में स्मरण रखना चाहिए कि, तुम उस ईश्वराव्यय के अंश हो, जिस का कर्म्म संसार के लिए नियत है। फिर भी वह आत्मकाम है, आप्तकाम है। उसे संसार से कुछ लेना देना नहीं है। फिर भी "वर्त्त एव च कर्म्मणि"। मूर्तिमान् उस वेदान्तपुरुष को रथ हाँकनें से क्या फल मिला ?। कौरव–पाण्डवो की सन्धि के प्रयत्न में उसका क्या स्वार्थ था ?, एकमात्र विश्वशान्ति। बस, जो कर्म्म–जो ज्ञान निष्कामभाव से युक्त होकर केवल स्वार्थसाधक बनता हुआ वैय्यक्तिक अभ्युदय का कारण बनता है, वह सब संशोधित कर्म्म ज्ञानादि है। एवं यही परमार्थ साधक बनते हुए बुद्धियोग हैं।

८९–परमार्थप्राप्ति–भावानुबन्धी वैराग्य की राग–द्वेष–प्रतिबन्धकता का स्वरूप–संस्मरण, एवं आनन्दस्रोत के अन्यतम शत्रु यथाजात प्राकृत–मानवों के द्वारा सञ्चित–आनन्द का क्षय, तथा तन्निबन्धना जीवित–मृत्यु का स्वरूप–दिग्दर्शन—

इस परमार्थभाव की प्राप्ति के लिए रागद्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य ही अपेक्षित है। प्रकारान्तर से देखिए। कर्म्म–भक्ति–ज्ञान, तीनों के ही एक दूसरी दृष्टि से चार विवर्त्त माने जासकते हैं। एक कर्म्ममार्ग ऐसा है, जिस का मनुष्य की कल्पना से सम्बन्ध है। मनुष्यने शास्त्रसिद्ध कर्म्म की उपेक्षा कर अपने बुद्धि–वाद के बलपर कर्म्म का एक स्वतन्त्र ही स्वरूप मान रक्खा है। ऐसे कल्पित कर्म्मों का मूल विशुद्ध राज–नीति, किंवा समाजनीति है। भौतिक सम्पत्तिवर्ग ही इस कल्पित कर्म्ममार्ग का प्रधान उपास्य है। विशुद्ध क्षणिकविज्ञानवादी वे नास्तिक, जिनका कि ईश्वर, परलोक, स्वर्ग, नरक, पाप–पुण्य, शास्त्र आदि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे ही इस कर्म्ममार्ग के अनुयायी हैं। हमारी आवश्यकताएँ जिन कर्म्मों से पूरी होजायँ, जो कर्म्म हमारी अन्नवस्त्र की कमी पूरी करदें, इस लोक के सम्पूर्ण वैभव जिन कर्म्मों से हमें मिल जायँ, इसप्रकार की उद्दाम–वासनाएँ रखमें वाले केवल काम–भोग–परायण, "खाना पीना मौज उड़ाना"

इस सिद्धान्त के पक्षपाती कर्म्माभिमानी हीं शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त होते हैं । और इसी कर्म्म के आधार पर वे अपने आप को कर्म्माचार्य्य मानने का दम भी भरते हैं । ऐसे कर्म्मों से सचमुच उन्हीं के शब्दों में मौज उड़ जाती है । वे आनन्द का सञ्चय नहीं करते, अपितु सञ्चित आत्मानन्द को सर्वथैव उड़ा देते हैं, क्षीण कर देते हैं, और यही इन की 'जीवितमृत्यु' मानी गई है ।

६०–लोकप्रतिष्ठाकामुक कर्म्माभिमानियों की ज्ञान--कर्म्म-भक्ति-त्रयी का लौकिक स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निबन्धन--काल्पनिक 'ईश्वर', तद्भ्रान्तिमूला ईश्वरपरायणता, एवं सर्वज्ञानविमूढ इत्थंभूत अभिनिविष्ट प्राकृत मानवों के जीवनेतिवृत्त का सम्पूर्ण-स्वरूप-परिचय—

ऐसे ही कर्म्माभिमानी लोकप्रतिष्ठा की प्राप्त के लिए, लोक में अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए ऊपर से आस्तिकता का बाना पहिन कर ईश्वरभक्ति का भी दम भरते हैं । अपने आप को पूर्ण ईश्वरभक्त बत लाते हैं । अपने प्रत्येक कर्म्म के साथ "ईश्वर की यही इच्छा है, ईश्वर ही यह कर्म्म करवा रहा है" यह सम्पुट लगाते रहते हैं । जब कि इन का कर्म्म ही कल्पित है, तो ईश्वर कैसे कल्पना से अछूता रह जायगा । फलतः ये एक ऐसे ईश्वर की कल्पना करते हैं, जिस की दृष्टि में मनुष्यमात्र समान है । ऊँच नीच का कोई भेद नहीं है । ब्रह्म–क्षत्र–विड–शूद्रभाव-मूलक चारों वर्णों का समान कर्म्म है, समान आचार–व्यवहार है । सबका एक कर्म्म, एक धर्म्म है । भला ईश्वर के राज्य में भी कहों पक्षपात रहा है ?। इसप्रकार शास्त्रसिद्ध, वर्णधर्म्मभेद-प्रवर्त्तक ईश्वर से भिन्न ही इन का ईश्वर है । और उसकी भक्ति ? । भला वह बिचारी केसे सुरक्षित रहती । शास्त्रसिद्धा भक्ति के प्रकार से सर्वथा विरुद्ध भक्ति ही इन की उपासना है । कहीं भी सामूहिक रूप से एकट्ठे होगए, और मनमानी प्रार्थनाएँ गढ़ कर भक्ति के उगाद्र प्रकट करने लगे । यही इन की संगवर्जिता भक्ति है । ऐसी भक्ति से ही ये समाज में पक्के भक्त, एवं आदर्श ईश्वरवादी बन रहे हैं । अत्र तीसरे ज्ञानकाण्ड की भी मीमांसा सुन लीजिए । जिस ज्ञान से इन का कल्पित कर्म्ममार्ग सुरक्षित रहै, वही इन का ज्ञानयोग है । एवं ऐसे ज्ञान के उपदेशक ही इन के वर्ग में तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं । आत्मा-परमात्मा-शास्त्र-धर्म्मादि ज्ञान का यहाँ प्रवेश भी असम्भव है । इन की 'राय', इन का आदेश ही इन का उच्चज्ञान है । एवं ज्ञानानुकूल उच्छृंखल कर्म्म ही इन का कर्म्मकाण्ड है । कहना न होगाकि, ऐसे–कर्म्म-ज्ञान-भक्ति, तीनों हीं अकर्म्म-अज्ञान-अभक्ति से अधिक विशेष महत्त्व नहीं रखते । इनमें कहने के लिए लौकिक वैयक्तिक स्वार्थ है । वस्तुतः यहाँ स्वार्थ का भी अभाव है । हाँ, यदि पशुवत् आहार-निद्रा-मैथुनादि ही का नाम स्वार्थ है, तो वह अवश्य ही इन तीनों काण्डों से उपकृत है । ऐसे कुकाण्डलक्षण तीनों हीं काण्ड भारतीय दृष्टि से तो नाश के ही कारण है । भगवान् इन के सम्बन्ध में अपने गीताशास्त्र में–'**सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः**' इस से अधिक कुछ नहीं कहना चाहते । हम भी इन पुरुषपुङ्गवों को दूर से प्रणाम करने में हीं अपना, एवं अपने देश का अभ्युदय समझते हैं ।

६१–शास्त्रविरुद्धा ज्ञान-कर्म्म–भक्ति- त्रयी, और तत्सम्बन्ध में–'परन्तु' का उत्थान—

शास्त्रमर्य्यादा से बहिष्कृत कर्म्म–भक्ति–ज्ञान को छोड़कर शास्त्रसिद्ध कर्म्म–भक्ति-ज्ञान की मीमांसा कीजिए । शास्त्र के अनुसार ही वैदिक--लौकिक कर्म्म किए, परन्तु दो कमी रखदी । कर्म्म किया-फल प्राप्ति के

लिए, उस का मूलद्वारा बनाया कामना को, एक कभी। सर्वाधार माना विशुद्ध वैय्यक्तिक स्वार्थ को। अवश्य ही यह कर्म्म यथेच्छ फल का भी कारण बनेगा, स्वार्थसिद्धि में कमी न रहेगी, परन्तु...........।

६२–शास्त्रानुगता ज्ञान--कर्म्म-भक्ति--त्रयी, और तत्सम्बन्ध में–'परन्तु' का आविर्भाव–

शास्त्रानुसार ईश्वर की उपासना की, परन्तु केवल आत्मोद्धार के लिए, साथ ही ईश्वरानुग्रह--लक्षण फल, एवं तन्मूला कामना को आगे करते हुए। अवश्य ही इस भक्ति से ऐश्वर्य्यभाव मिलेगा, अवश्य ही भक्तिबल के आधार पर यह कामकामी भक्त काम्यकर्मानुयायी की भाँति ही जो जो कामना करेगा, पूरी हो जायगी–" यं यं कामयते, तं तमाप्नोति", परन्तु........... ।

६३–सांख्यनिष्ठात्मिका ज्ञाननिष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में–'परन्तु' की अर्गला—

कर्म्मविरोधी ज्ञानकामनामयी सांख्यनिष्ठा का आश्रय लेता हुआ सांसारिक कर्म्मों से वियुक्त है। द्वैतलक्षण भक्ति से भी यह आगे बढ़ा हुआ है। अतएव कामनामय कर्म्म, एवं काममयी भक्ति से उत्पन्न होने वाले बन्धनमूलक संस्कारों से भी यह परे है। कायक्लेशात्मिका योगप्रक्रियाओं से इसने इन्द्रियों का दमन करते हुए लौकिक विषयों से भी छुट्टी ले ली है। इसप्रकार कहने, एवं सुनने में इस ज्ञानी का ज्ञानकाण्ड भी बड़ा ही कर्ण–प्रिय है। परन्तु...........।

६४–योगत्रयानुगत, समस्यापूर्ण–'परन्तु' की स्वरूप–मीमांसा, एवं तन्निबन्धन अस्वारस्य का स्वरूप-दिग्दर्शन, और–'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' का संस्मरण—

तीनों के ही साथ 'परन्तु' लगा हुआ है। कर्म्म-सम्बन्धी परन्तु कहता है कि, शास्त्रसिद्ध कर्म्म किया, बहुत अच्छा किया। परन्तु कामना और वैय्यक्तिक स्वार्थ को उस कर्म्म का प्रवर्त्तक कर्म्म बनाते हुए अभ्युदय के साथ साथ नाश का भी सामान इकट्ठा कर लिया। इस दृष्टि से न वास्तविक स्वार्थ (स्व–अर्थ–आत्म–निःश्रेयस्) साधन हुआ, न शान्ति मिली। तुमने तुह्मारे कर्म्म से वेदवादरत बनते हुए केवल तुह्मारा ही हित सिद्ध कर लिया, वह भी कुछ दिन के लिए (अन्ततोगत्वा पतन का ही कारण)। तो क्या पुरुषार्थ किया। सच पूछो, तो इस स्वार्थ-हानिलक्षण कामासक्तिरूप शास्त्रीय कर्म्म को तुमने पूर्वोक्त कल्पित अशास्त्रीय कर्म्म के ही समधरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। सचमुच ऐसा कर्म्म शास्त्रीय बनता हुआ भी हेय है–"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"।

६५–भक्ति--सम्बन्धी--'परन्तु' का स्वरूप-दिग्दर्शन, भक्तिमार्गानुबन्धी फल की स्वरूप–मीमांसा, एवं तन्निबन्धना वैतालवृत्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन—

भक्ति-सम्बन्धी 'परन्तु' कहता है कि, शास्त्रसिद्ध भक्तिमार्ग में तुमने श्रद्धा विश्वास रक्खा। स्वागतम्! परन्तु इस वैय्यक्तिक-स्वार्थमयी भक्ति से तुमने आत्मा के वास्तविक व्यापक रूप को विकृत कर दिया। रहे परिच्छेद के ही सेवक। सीमाभाव में भूमा कहाँ ?। भूमा के बिना शाश्वत आनन्द कहाँ ?। शाश्वत की आनन्द प्राप्ति नहीं, तो आत्मनिःश्रेयस् कैसा ?। ईश्वर से मिल कर भी माँगा, तो क्या माँगा?, कामनाओं की पूर्त्ति। और फिर कामना से लाभ भी उठाया तो किसने ?, केवल तुमने। क्या यह स्वार्थपरायणता आत्मभूमा के तिरोभाव का कारण नहीं है ?। फिर भक्ति का क्या मूल्य रहा ?। जैसा कर्म्मठों का कर्म्म, वैसी तुह्मारी भक्ति। दोनों रहे–तत्रैव अवलम्बित।

९६-ज्ञान--सम्बन्धी--'परन्तु' का स्वरूप-विलोडन, तथा ज्ञानमार्गानुबन्धी फलविजृम्भणों का नीर--क्षीर--विवेक, एवं ज्ञानपथानुगता--महती--भ्रान्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ज्ञान-सम्बन्धी 'परन्तु' उस ज्ञानी का तिरस्कार करता हुआ कहता है कि-श्रीमन ! यह आपने कहाँ से सीखा कि, कर्म्म ज्ञान का विरोधी है ?। आत्मा विशुद्ध ज्ञानमय है, यह आकाशवाणी कहाँ सुनी ?। भूलते हो, ज्ञानवत् कर्म्म भी आत्मा का स्वरूप है। उस का परित्याग मान बैठना केवल भ्रान्ति है। कर्म्म भ्रान्ति नहीं है, कर्म्मत्याग भ्रान्ति है। हाँ, इसी भ्रान्ति में पड़ कर तुमने यह सिद्धि अवश्य प्राप्त कर ली कि, कर्म्म-भक्ति के अनुयायियों को जो कुछ लोक मिलता था, उस से भी तुम वञ्चित होगए। वहाँ विषयों से संस्कार था, यहाँ बिना विषयों के मानससंस्मरण से संस्कार पैदा होगए, न मुक्ति मिली, न ऐहलौकिक सुख। न इधर के रहे, न उधर के। सचमुच कर्म्मत्यागलक्षण केवल प्राधानिक-शास्त्रमूलक परन्तु तो कर्म्म--भक्ति--निष्ठा के परन्तु से भी भयङ्कर है।

९७-गीता के द्वारा संशोधित त्रिकाण्ड का स्वरूप-समन्वय, एवं राद्धान्तभूत बुद्धियोग का संस्मरण—

अब उस त्रिकाण्ड का विचार कीजिए, जिन का गीता ने संशोधन कर उन्हें आंशिक रूप से बुद्धि-योग--सम्पत्ति प्रदान कर दी है। शास्त्रीय वैदिक-लौकिक-कर्म्म किए, कामना का परित्याग कर दिया। परमार्थ पर भी दृष्टि रक्खी, परन्तु स्वार्थ को सुरक्षित रखते हुए। दूसरे शब्दों में अपने उद्धार के साथ साथ दूसरों के उद्धार का भी ध्यान रखते हुए निष्कामभाव से कर्म्म किया। यही धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग कहलाया, इसी निष्कामभाव से कृत उपासना ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग कहलाया, एवं इसी निष्कामभाव से कृत ज्ञानोपयिक कर्म्म ज्ञानलक्षण बुद्धियोग कहलाया। परन्तु..........।

९८-योगत्रयानुबन्धी स्वार्थ--परमार्थ--तत्त्वों की स्वरूप-मीमांसा, तन्निबन्धना अनुपयोगिता, उपयोगिता, एवं गीता का महान् कौशलात्मक महान् 'योग'—

'परन्तु' ने अभी तक पीछा नहीं छोड़ा। निष्कामभाव रहने पर बुद्धियोगयुक्त कर्म्म-भक्ति-ज्ञान के संशोधित रूपों में परन्तु क्यों घुसा हुआ है ?, इसका भी एक कारण है। परमार्थ के साथ साथ चलने वाला स्वार्थ ही वह कारण है। इसी ने परन्तु के गन्ध को अभीतक सुरक्षित रख रक्खा है। यह परन्तु निकले तब, जबकि स्वार्थभाव को भी सर्वथा निकाल दिया जाय, एवं परमार्थभाव को भी न रहने दिया जाय। स्वार्थ के मूल में तो काम बैठा ही हुआ है, परन्तु परमार्थ भी कामभाव से मुक्त नहीं है। क्या स्वार्थ, क्या परमार्थ, सभी भाव मानसवृत्ति [कामना] के उत्तेजक ही हैं। हम परमार्थ कर रहे हैं, यह पारमार्थिक राग है। स्वार्थ बुरा है, यह स्वार्थसम्बन्धिनी द्वेषासक्ति है। विशुद्ध स्वार्थ में स्वार्थ के साथ रागासक्ति, स्वार्थ के साथ द्वेषासक्ति है, एवमेव स्वार्थयुक्त परमार्थ, किंवा परमार्थयुक्त स्वार्थ के साथ भी [द्वेषासक्ति न सही] रागासक्ति तो अवश्य ही है। स्वार्थ-परमार्थ का झगड़ा ही बुरा। इस बुराई को दूर करने वाला रागद्वेष-विनाशक एकमात्र वैराग्यलक्षण बुद्धियोग, यही परन्तु के बीज का समूलविनाशक, यही गीता का मुख्य विषय, यही समत्वयोग और यही योगों में [कर्म्म--भक्ति--ज्ञानरूप कर्म्मों में] महान् कौशल।

९९–योगत्रयी से अनुप्राणित तीन विभिन्न–संस्थानों के श्रेणि–विभागों का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

निष्कर्ष यही हुआ कि, कल्पित त्रिकाण्ड स्वार्थ–परमार्थ सब ओर से वञ्चित रहता हुआ निकृष्ट है। शास्त्रीय प्रवृत्तिमूलक त्रिकाण्ड स्वार्थमात्र का उपोद्बल्क बनता हुआ भी अन्त में घातक बनता हुआ हेय है। शास्त्रीय निवृत्तिमूलक संशोधित त्रिकाण्ड स्वार्थयुक्त परमार्थ का साधक बनता हुआ उपादेय है। एवं गीतोक्त राग--द्वेष–विरहित वैराग्यलक्षण से युक्त त्रिकाण्ड स्वार्थ परमार्थादि यच्चयावत् द्वन्द्वभावों से अतीत बनता हुआ--आराध्य है।

१००–१–कल्पिता–काण्डत्रयी–अधमा—

१—कल्पित–कर्म्ममार्गः—ऐहलौकिक–कामवासना–मूलकः

२—कल्पित–भक्तिमार्गः—नास्तिकताच्छादनस्थानीयः

३ –कल्पित–ज्ञानमार्गः—कल्पितकर्म्ममार्गरक्षकः

१०१–२–शास्त्रीया–काण्डत्रयी प्रवृत्तिमूला—हेया

१-शास्त्रीयप्रवृत्ति–कर्म्ममार्गः—स्वार्थसाधकः सन् परमार्थविधातकः

२– ,, ,, भक्तिमार्गः—ऐश्वर्य्यलक्षणः सन् भूमानन्दविच्युतः

३– ,, ,, ज्ञानमार्गः—कर्म्मविरहितः सन्–मिथ्याचारः

१०२–३–शास्त्रीय काण्डत्रयी निवृत्तिमूला—उपादेया

१-शास्त्रीयनिवृत्त–कर्म्ममार्गः—स्वार्थ-परमार्थयुक्तः सन्–श्रेष्ठः (धर्म्मबुद्धियोगः)

२– ,, ,, भक्तिमार्गः— ,, ,, सन् श्रेष्ठः (ऐश्वर्य बुद्धियोगः)

३– ,, ,, ज्ञानमार्गः—कर्म्मपरिग्रहलक्षणः सन् श्रेष्ठः (ज्ञानबुद्धियोगः)

१०३–४–गीतासम्मता बुद्धियोगनिष्ठा—आराध्या

१–वैराग्यलक्षणबुद्धियोगसहकृतः कर्म्ममार्गः–स्वार्थ–परमार्थ–शून्यो–द्वन्द्वशून्यो वा सर्वपूर्णः

२– ,, ,, भक्तिमार्गः– ,, ,, ,,

३– ,, ,, ज्ञानमार्गः-- ,, ,, ,,

———•———

संशोधित–ज्ञानयोगस्वरूप–मीमांसा

१०४–तमः–प्रकाशवत्–अत्यन्त–विरुद्ध भी ज्ञान, तथा कर्म्म का सहावस्थानात्मक समन्वय–प्रयास, एवं विश्वातीत, और विश्व–समष्टिरूप ईश्वर–प्रजापति के तात्त्विक स्वरूप का संस्मरण—

ज्ञान-कर्म्म दोनों के स्वरूप में यद्यपि अहोरात्र का अन्तर है, फिर भी तमः-प्रकाशवत् दोनों अभिन्न हैं। इन दो विरुद्ध तत्त्वों का समन्वित रूप ही ईश्वर प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वर प्रजापति का आधा कर्म्मभाग 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है, एवं आधे ज्ञानभाग को 'विश्वातीत' कहा जासकता है। यद्यपि सर्वबल-विशिष्टरसमूर्त्ति, अत्यनपिनद्ध परात्पर के लिए ही विश्वातीत शब्द नियत है, तथापि विश्वविजातीयता की अपेक्षा से गौणबुद्ध्या विश्व (कर्म्म) प्रविष्ट इस आत्मतत्त्व (ज्ञानतत्त्व) को भी विश्वातीत कहा जासकता है। विश्व में रहने वाला, दूसरे शब्दों में विश्व में प्रविष्ट आत्मा यद्यपि परमार्थदृष्टि से विश्वातीत नहीं कहा जासकता। फिर भी क्योंकि आत्मा स्वयं विश्व नहीं है, विश्व में रहने वाला है, एकमात्र इसी दृष्टि से (व्यवहारदृष्टि से) इस विश्वाध्यक्ष को भी हम 'विश्वातीत' कर देते हैं।

१०५–ज्ञान, और कर्म्म का पारस्परिक अन्तरान्तरीभाव–सम्बन्ध, एवं तन्निबन्धन विश्वप्रजापति की ज्ञान–कर्म्म–विभूतियों का संस्मरण—

आगे जाकर विश्वरूप कर्म्म का, किंवा कर्म्मरूप विश्व का भी आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव मान लेना पड़ता है। पूर्वप्रकरणों में अनेक स्थानों में, विशेषतः ब्रह्मकर्म्मपरीक्षाप्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आत्मा (अव्ययात्मा) ज्ञान–कर्म्म दोनों की समष्टि है। आनन्दविज्ञानमनोऽवच्छेदेन वही आत्मा ज्ञानात्मा है, एवं मनःप्राणवाग्–अवच्छेदेन वही कर्म्मात्मा है। कर्म्मात्मा ज्ञानात्मा से नित्ययुक्त है, ज्ञानात्मा कर्म्मात्मा से नित्य युक्त है। अमृत के गर्भ में मृत्यु, यही ज्ञानात्मा है। मृत्यु के गर्भ में अमृत, यही कर्म्मात्मा है। जिसे कर्म्म कहा जाता है, उस के मूल में भी ज्ञान प्रतिष्ठित है। एवं जिसे ज्ञान कहा जाता है, वह भी कर्म्म से अविनाभूत है।

१०६–कर्म्मात्मा, तथा विश्वातीतात्मा का स्वरूप–संस्मरण, आनन्द–विज्ञान मनोमय–विश्वातीतात्मा, और मनः-प्राण–वाङ्मय–विश्वात्मा से अनुप्राणिता स्वरूप–स्थिति का समन्वय–प्रयास—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, कर्म्ममय विश्व कर्म्मात्मा है। एवं ज्ञानमन आत्मा विश्वातीत है। ज्ञानमय विश्वात्मा में भी मनःप्राणवाग्रूप कर्म्मात्मा का सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु वहाँ ज्ञानप्रधान है, कर्म्म गौण है। क्योंकि ज्ञानात्मा में दोनों हैं, अतएव हम इसे भी उभयात्मक ही कहेंगे। एवमेव मनःप्राणवाङ्मय विश्व में भी आनन्द विज्ञान मनोमय ज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है, परन्तु यहाँ कर्म्म प्रधान है, एवं ज्ञान गौण है। क्योंकि कर्म्मात्मा में भी दोनों हैं, अतएव इसे भी उभयात्मक ही माना जायगा। उसी ज्ञानकर्म्ममय आत्मा का विश्वरूप कर्म्म प्रधान है, विश्वातीतरूप ज्ञानप्रधान है। वस्तुतः विश्वरूप ज्ञान से शून्य नहीं है, एवं विश्वा–

तीतरूप कर्म्म से शून्य नहीं है। एक ही विश्वातीत के ज्ञान–कर्म्म की प्रधानता अप्रधानता से विश्वातीत–विश्व दो–रूप होरहे हैं। विश्व भी वही है, विश्वातीत भी वही है। यह विश्वरूप उस विश्वातीतरूप आत्मा का शरीर है। वह इस शरीर का आत्मा है। उभयमूर्त्ति यह 'वही' तत्त्व ईश्वरप्रजापति है। न विश्वातीत ईश्वर है, न विश्व ईश्वर है। समष्टि का ही नाम ईश्वर है, समष्टि का ही नाम प्रजापति है। यही ईश्वर कर्म्मयोग-प्रकरण में 'ओं तत् सत्' इस निर्देश से व्यक्त हुआ है।

१०७–अहंभावानुबन्धी आत्मा की स्वरूप मीमांसा, तन्निबन्धन–अमृत–मृत्युभाव, तथा सद्–असद् भावों का स्वरूप-समन्वय, एवं ज्ञान, कर्म–पर सर्वप्रपञ्च की परि–समाप्ति—

जब कि जीवप्रजापति उसी का अंश है, तो सुतरां इस में भी "ज्ञान-कर्म" इन दोनों तत्त्वों की सत्ता-सिद्ध होजाती है। 'ओङ्कार' का अंशरूप यह "अहं" कार ज्ञानकर्म्म से कैसे वञ्चित रह सकता है ?। अहं तत्त्व का ज्ञानभाग अमृत है, सत् है। कर्म्मभाग मृत्यु है, असत् है। अमृत मृत्यु, किंवा सदसत् की समष्टि ही अहं (जीवप्रजापति) है, जैसाकि—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। 'हमारी अध्यात्मसंस्था में ज्ञान-कर्म्म दोनों हैं", एक सिद्धान्त, एवं 'ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है' यह दूसरा सिद्धान्त। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जन्मावस्था से आरम्भ कर निधनावस्था–पर्य्यन्त जानने और करने के अतिरिक्त तीसरी अनुभूति का आत्यन्तिक अभाव है। 'हम कुछ जानते हैं, और कुछ करते है' इस जानने (ज्ञान) और करने (कर्म्म) के अतिरिक्त सचमुच तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव ही है।

१०८–ज्ञान, तथा कर्म्म की सर्वव्याप्ति के सम्बन्ध में एक महती–विप्रतिपत्ति का समु–त्थान, एवं तत्स्वरूप–दिग्दर्शन, और तन्निराकरण प्रयास—

इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उठाई जासकती है। 'जानना और करना' केवल इसी वाक्य पर तत्त्ववाद को सीमित नहीं किया जासकता। अवश्य ही दोनों से अतिरिक्त एक उस तीसरे तत्त्व की सत्ता स्वीकृत करनी पड़ेगी, जो कि जानता, एवं करता है। जानना करना व्यापारमात्र है। जानने वाला जाना करता है, करने वाला किया करता है। जो जानता है, एवं जो करता है, वह अवश्य ही इस जानने करने (ज्ञान–कर्म्म) से भिन्न तत्त्व है। एवं वही तत्त्व 'अहं' माना जासकता है। जिसप्रकार भोजन ही भोक्ता हो, तो न खाने वाला खाने वाला रहे, एवं न खाने की चीज खाने की चीज रहै। ठीक इसीप्रकार जानने वाला, एवं जानना करना दोनों सर्वथा पृथक् हैं। 'हम जानते हैं, हम करते हैं' इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि, 'हम' कोई भिन्न वस्तुतत्त्व हैं, एवं जानना-करना कोई पृथक् पदार्थ है। यदि 'हम' और 'जानना' 'करना' एक ही होते, तो न कभी हम कुछ जानने का प्रयास करते, एवं न कभी हम कुछ करने का प्रयास करते। क्योंकि इच्छा का सम्बन्ध अप्राप्त वस्तु के साथ ही रहता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही इच्छा हुआ करती है। हमें जानने की भी इच्छा होती है, और करने की भी। प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर कुछ न कुछ जानने की, एवं करने की चेष्टा किया करता है। यदि जानना और करना 'हम' पदार्थ से भिन्न न होता, तो न कभी जानने की इच्छा करता, एवं न करने की कामना रखता। फलतः दोनों से अतिरिक्त जानने वाले, करने वाले की सत्ता अवश्य ही सिद्ध होजाती है।

१०९–'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्' मूला विप्रतिपत्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन—

लीजिए, इस के साथ ही एक दूसरी भी विप्रतिपत्ति और उपस्थित होगई। वह विप्रतिपत्ति तो हमें एक और तत्त्व मनवाने के लिए सन्नद्ध है। जानना ज्ञान का ही तो नाम है, एवं करना कर्म्म का ही तो नाम है। जानने वाले को ज्ञाता ही तो कहा जाता है, एवं करने वाले को कर्त्ता ही तो माना जाता है। ज्ञाता कर्त्ता ही ज्ञान–कर्म्म का सञ्चालक है। इस ज्ञान, और कर्म्म का आश्रय कौन ?। ज्ञान सापेक्ष शब्द है। हमने जान लिया, हमें ज्ञान होगया, परन्तु किस का ?, अभी यह जिज्ञासा बाकी रह गई। ज्ञान से ज्ञाता तो गृहीत नहीं होता। हम अपने आप को क्या जानेंगे, किस से जानेंगे–'विज्ञातारं वा अरे ! केन विजानीयात्'। अवश्य ही हमारे ज्ञान का आश्रय हम और हमारे ज्ञान से कोई अन्य होना चाहिए।

११०–निष्क्रियतत्त्वसापेक्षा क्रिया के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन –

इसप्रकार कर्म्म क्रियारूप होता हुआ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। क्षणिक कर्म्म तबतक सर्वथा अनुपपन्न है, जबतक कि उस का कोई अकर्म्मरूप स्थिर धरातल नहीं मान लिया जाता। उदाहरण के लिए गतिकर्म्म को ही लीजिए। गति एक कर्म्म है। हम मार्ग में चल रहे हैं। यदि पृथिवी का धरातल न हो, तो गतिकर्म्म असम्भव होजाय। मुख–हाथ है, तभी भोजन कर्म्म होता है। चक्षु कोई स्थिर पदार्थ है, तभी रूपदर्शन–कर्म्म होता है। निदर्शन मात्र है। ऐसा कोई कर्म्म नहीं, कोई क्रिया नहीं, जो कि बिना किसी निष्क्रिय तत्त्व को अपना आधार बनाए स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सके।

१११–प्रत्यक्षदृष्टि, और वाङ्मय कथन में पारस्परिक आत्यन्तिक-विरोध का समुत्थान—

हम किसी वस्तु को जानते हैं, किसी आधार पर कर्म्म करते हैं। बस ज्ञान–कर्म्म, किंवा जानने करने का आधारभूत वह तीसरा तत्त्व अवश्य ही हम से भी भिन्न है, एवं जानने करने से भी भिन्न है। आपने तो कहा था–जानने और करने के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। यहाँ दो के अतिरिक्त 'हम' और ज्ञान–कर्म्म का आश्रय, इन दो की सत्ता और सिद्ध होजाती है। आपका कथन सत्य माना जाय, अथवा इस प्रत्यक्षदृष्टि को सत्य कहा जाय ?।

११२–प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका नास्तिकदृष्टि, एवं शब्द-प्रमाणात्मिका आस्तिकदृष्टि का तारतम्य–समन्वय—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। किन्तु इस विप्रतिपत्ति का मूलाधार नास्तिकवाद है। 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' यह चार्वाक (नास्तिक) का सिद्धान्त है, एवं 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' यह आस्तिक-सिद्धान्त है। कथनरूप शास्त्रप्रमाण के समाने प्रत्यक्षानुभूत प्रमाण का एक आस्तिक की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। सम्भव है—इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के सम्बन्ध में चार्वाक के प्रत्यक्षप्रमाण का कोई महत्त्व हो। परन्तु अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्धमें तो प्रत्यक्षप्रमाण सर्वथा ही पराभूत है। ज्ञान, कर्म्म, दोनों ही अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। इन के सम्बन्ध में शास्त्र जैसे निर्णय कर देगा, वही हमारे लिए मान्य होगा—'यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'। क्योंकि शास्त्र इस सम्बन्ध में हमें यही कहता है कि, ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का अभाव है, अतः हम भी इसी पर विश्वास कर ते हुए यही कहेंगे कि, दोनों से अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का अभाव है।

११३-समाधानानुगता एक प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति, प्रत्यक्षदृष्टिमूला श्रुति, तन्निबन्धन स्वतःप्रमाणभूत शब्दप्रामाण्य का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं शब्दप्रमाणात्मिका शास्त्रनिष्ठा की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

समाधान तो हुआ, परन्तु इस समाधान में भी एक विप्रतिप्रत्ति रह गई। यह भी शास्त्र का ही सिद्धान्त है कि, जिन अतीन्द्रिय पदार्थों का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, महर्षिगण अपनी योगज-दृष्टि से उनका प्रत्यक्ष कर लेते हैं। उनका जो प्रत्यक्षदर्शन है, वही हमारे लिए श्रुतिरूप प्रमाण बनता है। उह्वोंने ज्ञान कर्म्म का जो स्वरूप देखा, वही तो शब्द के द्वारा हमारे सामने रक्खा। क्या उह्वोंनें अपने अनुभव को, दृष्टि को शब्द के द्वारा नहीं बतलाया, अथवा नहीं बतला सके। यदि बतलाया है, तो हम उह्वीं शास्त्रों से यह जिज्ञासा करते हैं कि, यदि उनकी दृष्टि में ज्ञान और कर्म्म, ये दो ही तत्त्व हैं, तो फिर हमें अपने व्यावहारिक जगत् में त्रित्ववाद क्यों प्रतीत होता है ?। और फिर-"**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**" यह भी तो शास्त्र का ही सिद्धान्त है। "**व्यवहार शक्तिग्राहक-शिरोमणि है**" यह भी शास्त्रोंनें हीं कहा है। भला वह ऐसा कौनसा गुप्त रहस्य है, जो हमारे व्यवहार का विरोधी बन रहा है ?। यदि जानना-करना, ये दो ही हैं, तो इनके सम्बन्ध में पूर्व में जो विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित हुईं हैं, क्या उनका समाधान केवल यही है कि—"**शास्त्र कहता है, इसलिए मानलो**"। प्रभुसत्ता के अतिरिक्त क्या और कोई साधन शास्त्र के कोश में नहीं है ?। क्या शास्त्र मनोविज्ञान का विरोधी है ?। क्या अपनी प्रभुसत्ता को थोड़ी देर के लिए एक ओर रखकर शास्त्र हमारा संतोष नहीं कर सकता ?

११४-ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय-रूपा-ज्ञाननोदना का, तथा कर्म्म-कर्त्ता-करण-रूपा-कर्म्मनोदना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

नहीं, कर सकता है, अवश्य कर सकता है, किया है, और आज भी करने के लिए सन्नद्ध है। अपनी परमार्थदृष्टि को सुरक्षित रखता हुआ शास्त्र भी उक्त भेदवाद का स्पष्टीकरण कर रहा है। वह भी ज्ञान के **ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय**, एवं कर्म्म के **कर्त्ता-करण-कर्म्म**, ये तीन तीन भेद मानता हुआ उक्त विप्रतिपत्तियों का समर्थक बन रहा है। देखिए !

ज्ञानं-ज्ञेय-परिज्ञाता त्रिविधा कर्म्म-नोदना ॥
करणं-कर्म्म-कर्त्तेति त्रिविधः कर्म्मसंग्रहः ॥

—गीता १८।१८

११५-महामायानुबन्ध से एक ही मौलिकतत्त्व के विश्वातीत, विश्व-रूप विभिन्न दो विवर्त्तों का स्वरूप समन्वय—

गीताशास्त्र कहता है कि, ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता, ये तीनों कर्म्मप्रेरणा के फल हैं। कर्म्मप्रेरणा से एक ही ज्ञान के ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। एवं करण-कर्म्म-कर्त्ता-इन तीनों कर्म्मविवर्त्तों से यथायावत् कर्म्मों का संग्रह होजाता है। कर्म्मने क्यों एक ही ज्ञान के तीन विवर्त्त कर दिए ?, एवं कर्म्म स्वयं भी क्यों तीन

भावों में परिणत होगया ? इस प्रश्न का समाधान उस महामाया से पूँछिए, जिसने कि अपने सीमाबल से उस विश्वातीत अमायी अव्ययतत्त्व को सीमित बनाते हुए विश्व, एवं विश्वातीत, इन दो रूपों में परिणत कर दिया ।

११६–महामायातीत मौलिक स्वरूप का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना ज्ञानत्रयी, तथा कर्म्मत्रयी का स्वरूप--दिग्दर्शन–प्रयास, और तन्निबन्धन कोशब्रह्म का संस्मरण–

महामायातीत अव्ययात्मा रस-बल-मूर्त्ति है, यह तो सिद्ध विषय है । इसमें मायाबल का उदय होता है । मायोदय से वह पुरभाव से युक्त होता हुआ 'पुरुष' बन जाता है । पुरुषावस्था में आते ही इसका रस भाग आनन्द विज्ञान मन, इन तीन रूपों में परिणत होजाता है, एवं बलभाग मनः–प्राण–वाक्–इन तीन रूपों में परिणत होजाता है । २ के ६ रूप, किंवा ५ रूप, (मन को मनस्त्वेन एक मान लेने पर) होजाते हैं । परन्तु ज्ञानदृष्ट्या आनन्द–विज्ञान–मन तीनों मिलकर एकरूप है, एवं कर्म्मदृष्ट्या मनः-प्राण-वाक्-तीनों मिलकर एकरूप हैं । रसत्रयी ज्ञान है, बलत्रयी कर्म्म है । यही ज्ञान मौलिक ज्ञान है, यही कर्म्म मौलिक कर्म्म है । यह ज्ञान भी कोशात्मक है, एवं कर्म्म भी कोशात्मक है । ज्ञान–कर्म्म का खजाना हीं, ज्ञान–कर्म्म रूप ही अव्यय का रूप है ।

११७–'खं' ब्रह्मात्मक 'आवपनब्रह्म' का स्वरूप--समन्वय, एवं एकायतनरूप ब्रह्म का पावन–संस्मरण—

संसार में असंख्य प्राणी हैं । सभी कुछ न कुछ ज्ञान रखते हैं, एवं सभी कोई न कोई कर्म्म करते रहते हैं । सब का ज्ञान भिन्न है, सबका कर्म्म भिन्न हैं । इन अनन्त ज्ञान–कर्म्म कणिकाओं का कोश ज्ञान–कर्म्मरूप वही अव्ययात्मा है । सृष्टिकाल में वहीं से ज्ञान–कर्म्म का प्रदान होता है, संहार काल में सब–ज्ञान-कर्म्म उसी में विलीन होजाते हैं—"परे ऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति"—"सर्वेषामेकायतनम्" । यह सब का आलम्बन है, अतएव इसे "आवपन" कहा जाता है । यही उपनिषदों का "खंब्रह्म" है । यही प्रणव ओङ्कार है । यही ईश्वर--प्रजापति है ।

११८–कोशात्मक--ज्ञान--कर्म्मरूप मनः--प्राण--रूप आवपनब्रह्म के अप्राण--अमनो-भावों के तात्त्विक--स्वरूप का समन्वय—

हम जो कुछ जानते हैं, वह जानना ज्ञान है। हम जो कुछ करते हैं, वह करना कर्म्म है । हमारा ज्ञान, हमारा कर्म्म (जानना–करना) दोनों की समष्टि यही अव्ययात्मा है । हम इसी ज्ञानमात्रा से ज्ञाता बने हुए हैं, इही कर्म्ममात्रा से कर्त्ता बने हुए हैं । हम ज्ञाता बनते हुए ज्ञानमय हैं, कर्त्ता बनते हुए कर्म्ममय हैं । उधर वह न ज्ञानमय है, न कर्म्ममय है । अपितु ज्ञान–कर्म्मरूप है । ज्ञान जिसमें रहता है, वह ज्ञाता है, कर्म्म जिसमें रहता है, वह कर्त्ता है । जो स्वयं ज्ञान–कर्म्म–मूर्त्ति है, वह ज्ञाता कर्त्ता क्यों होने लगा ? । करना जानना उसका काम नहीं है । न वह करता है, न जानता है । वह करे क्या, जबकि वह स्वयं करना (कर्म्म) रूप है । वह जाने किसे, जबकि वह स्वयं जानना (ज्ञान) रूप है । वह मनोरूप बनता हुआ अमन है, प्राणरूप होता हुआ अप्राण है । न वह कार्य्य है, न कारण है, कर्त्ता है, न ज्ञाता है । ज्ञान–कर्म्म-मूर्त्ति इसी अव्ययेश्वर का स्वरूप बतलाता हुआ उपनिषच्छास्त्र कहता है—

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥
न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते —
न तत् समश्चाभ्याधिकश्च श्रूयते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते—
स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च ॥

११९ "मत्तः परतरं नान्यत्–किञ्चिदस्ति धनञ्जय" सूत्रमूलक आवपनब्रह्मरूप अव्ययेश्वर की आलम्बनता का स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुबन्धी कर्तृत्व, और तद्रूपता का स्वरुप-दिग्दर्शन—

जबकि पूर्वकथनानुसार जीवात्मा उसी अव्यय का अंश है, तो फिर यह भी ज्ञाता कर्त्ता नहीं होना चाहिए । परन्तु है, क्या कारण ?, उत्तर उसी अव्ययेश्वर से पूँछिए । वह कहता कि, मैं बिना प्रकृति को साथ लिए क्षणमात्र भी नहीं रहता । वह मेरी प्रकृति–अक्षर–क्षर–भेद से दो भागों में विभक्त है । यह भी स्मरण रहै—कि मेरी प्रकृति भी मेरे स्वरूप से बाहिर नहीं है । जो मैं हूँ, वही मेरी प्रकृति है । प्रकृति मेरी पराशक्ति है, मैं शक्तिमान् हूँ । शक्ति और शक्तिमान् का तापशक्ति एवं शक्तिमान् अग्नि की भाँति अभेद है । केवल मायाबल के तारतम्य से मेरे ही प्रकृति–पुरुष दो रूप होजाते हैं । प्रकृति आगे जाकर अमृत–मृत्यु (ज्ञान–कर्म्म) के तारतम्य से अक्षर–क्षर भेद से दो भागों में विभक्त होजाती है । जब प्रकृति और पुरुष में भेद नहीं, तो मुझ (अव्यय) में और अक्षर-क्षर में क्या भेद ? । भेद है तो केवल इतना हीं कि, मुझ में मेरी मनः कला का प्राधान्य है, अक्षर में मेरी प्राणकला का प्राधान्य है, क्षरमें मेरी वाक् कला का प्राधान्य है । मनोऽवच्छेदेन मैं ही अव्यय नाम से प्रसिद्ध होता हुआ विश्व का आलम्बन बन रहा हूँ । प्राणावच्छेदेन मैं ही अक्षर नाम से प्रसिद्ध होता हुआ विश्वकर्त्ता बन रहा हूँ । एवं वागवच्छेदेन मैं हीं क्षर नाम से प्रसिद्ध होता हुआ विश्व का उपादान बन रहा हूँ । मैं अपने क्षररूप से विश्व भी हूँ, अक्षररूप से विश्वकर्त्ता भी हूँ, एवं अव्ययरूप से अकर्त्ता भी हूँ । "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !" ।

१२०–अव्यय–अक्षर–क्षर नामक तीन ब्रह्मविवर्त्तों की क्रमिक–प्रधानता से अनुप्राणित ज्ञान–ज्ञाता–ज्ञेय–भावों का स्वरूप–समन्वय, एवं तन्निबन्धना कर्म्म–कर्त्ता–करण–भावत्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

क्षराक्षर को गर्भ में रखता हुआ अव्यय–प्रधान बन कर मैं ज्ञान--कर्म्म बना हुआ हूँ, यही मेरा मूलरूप है । मेरा यही रूप लोक में ईश्वर नाम से प्रसिद्ध है । अव्यय-क्षर को गर्भ में रखता हुआ अक्षर प्रधान बन कर, उस अपने अक्षररूप में अपने गर्भीभूत अव्यय के ज्ञान--कर्म्मांश का समावेश कर, तद्द्वारा अपने अक्षररूप को ज्ञाता–कर्त्ता बनाता हुआ मैं हीं जीव नाम से प्रसिद्ध हूँ । एवं अव्ययाक्षर को गर्भ में रखता हुआ, क्षरप्रधान बन कर, उस अपने क्षररूप में गर्भीभूत अपने अव्ययरूप के ज्ञान–कर्म्म का समा–

वेश कर अपने हीं क्षररूप को ज्ञेय-कर्म्म (अर्थ) रूप में परिणत करता हुआ जगत् नाम से प्रसिद्ध हूँ। इसप्रकार ज्ञान कर्म के सम्बन्ध–तारतम्य से अव्ययरूप से मैं ही ईश्वर हूँ, एवं इस ईश्वरदशा में ज्ञान-कर्म्म ये ही दो रूप हैं। आगे के दोनों रूप मेरे इस मूलरूप का ही उपबृंहण है। अक्षररूप से मैं हीं जीव हूँ। इस जीवदशा में मेरे अंशरूप वे ही ज्ञानकर्म्म–ज्ञाता–कर्त्ता रूप में परिणत होरहे हैं। एवं क्षररूप से मैं हीं विश्व हूँ। इस विश्वदशा में मेरे अंशरूप वे ही ज्ञानकर्म्म ज्ञेय–कर्म्म रूप में परिणत हैं।

१२१–अव्ययानुबन्धिनी ईश्वरसंस्था, अक्षरानुबन्धिनी जीवसंस्था, एवं क्षरानुबन्धिनी जगत्संस्था का स्वरूप–समन्वय,–तथा 'अहं सर्वस्य प्रभवः–मत्तः सर्वं–प्रवर्त्तते' का स्वरूप-संस्मरण—

हाँ, इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, ईश्वर-जीव-जगत्, ये तीनों संस्थाएँ मुझ एक का ही विकास है, अव्यय-अक्षर-क्षर, ये भी मुझ एक अव्ययरूप के हीं तीन रूप हैं। फलतः तीनों संस्थाओं में तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है। अव्ययप्रधाना मेरी ईश्वरसंस्था भी अक्षर-क्षर-से रहित नहीं है। अक्षरप्रधाना मेरी जीवसंस्था भी अव्यय-क्षर से पृथक् नहीं है। एवं क्षरप्रधाना मेरी जगत्संस्था भी अव्ययाक्षर–सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। मेरे ये ही तीनों रूप शास्त्रों में 'ओम्'–'अहम्'–'अहः' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों में कोई अन्तर नहीं है। यही समझाने के लिए मैंनें मेरे ओङ्कारात्मक ईश्वररूप से उत्पन्न होने वाले मेरे विश्वरूप को अहं से उत्पन्न बतलाया है—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'। हाँ, तो इसी से तुम्हें यह भी विश्वास कर लेना चाहिए कि, जीवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञाता-कर्त्ता, जगत् संस्था से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञेय–कर्म्म भी ईश्वरीय ज्ञान–कर्म्म से पृथक नहीं हैं। जब तन्मूलक अक्षर–क्षर मुझ अव्यय से भिन्न नहीं, एवं मेरा स्वरूप ज्ञानकर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तो जीवसम्बन्धी ज्ञाता कर्त्ताभाव, जगत् सम्बन्धी ज्ञेय–कर्म्म भाव कैसे ज्ञान–कर्म्म-मर्य्यादा से बाहिर रह सकते हैं।

१२२-ज्ञान–ज्ञाता-ज्ञेयानुबन्धिनी-उक्थ–अर्क–अशीति–भावत्रयी का स्वरूप-दिग्-दर्शन —

जानना और करना (ज्ञान-कर्म्म) उसी का अव्ययरूप है। जो जानता है, एवं जो करता है, वह ज्ञाता-कर्त्ता 'हम' पदार्थ अक्षररूप है। एवं जो ज्ञान का विषय है, एवं जो ज्ञेय का स्थिर आधार है, वह क्षररूप है। 'उक्थार्काशीति–विज्ञान' के अनुसार ईश्वरसंस्था में अव्यय उक्थ है, अक्षर अर्क है, क्षर अशीति है। जीवसंस्था में अक्षर उक्थ बना हुआ है, अक्षर अर्क है, अव्यय अशीति है। उक्थ के गर्भ से अर्क के गर्भ में अशीति प्रतिष्ठित है। उक्थ सदा भोगसाधन है, अशीति भोग्य है। भोक्ता प्रधान सहचारी है, भोग्य गौण है।

१२३–प्रथमा–अव्ययात्मसंस्था का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

अव्ययेश्वरसंस्था में क्योंकि अव्यय उक्थ है, अतः यहाँ अव्यय ही भोक्ता माना जायगा, अक्षर इस के अर्क–स्थानीय बनता हुआ भोगसाधन माना जायगा, एवं क्षर अशीति–स्थानीय बनता हुआ भोग्य माना जायगा। क्योंकि तीनों में अव्यय को ही भोक्ता माना जाता है, उक्थ ही भोक्ता है, एवं यहाँ का उक्थ अव्यय है, और वह ज्ञान-कर्म्ममूर्त्ति है। अतः इस प्रथमा संस्था को हम ज्ञान–कर्म्म–संस्था ही कहेंगे।

१२४–द्वितीया--अक्षरात्मसंस्था का स्वरूप--समन्वय--प्रयास—

जीवाक्षरसंस्था में क्योंकि अक्षर उक्थ है, अतः यहाँ यही भोक्ता माना जायगा। अर्कस्थानीय अव्यय भोगसाधन माना जायगा, एवं अशीति–स्थानीय क्षर को भोग्य माना जायगा। पूर्वपरिभाषानुसार उक्थाक्षर अव्यय के प्राणानुगत ज्ञान–कर्म्मांश को लेकर ज्ञाता--कर्त्ता बना हुआ है, अतएव इस दूसरी संस्था के ज्ञान–कर्म्म विवर्त्त को "ज्ञाता--कर्त्ता" ही कहेंगे।

१२५–तृतीया–क्षरात्मसंस्था का स्वरूप--समन्वय--प्रयास—

विश्वक्षरसंस्था में क्योंकि क्षर उक्थ है, अतः यहाँ यही भोक्ता है, अर्कस्थानीय अक्षर भोगसाधन है, एवं अशीति–स्थानीय अव्यय भोग्य है। अव्यय के वागनुगत ज्ञान–कर्म्मांश को लेकर क्योंकि क्षर अर्थमूर्त्ति बनता हुआ ज्ञेय-कर्म्म बना हुआ है, अतः इस तीसरी संस्था को हम "ज्ञेय-कर्म्म" ही कहेंगे,

१२६–अव्ययानुबन्धी ईश्वरानुगत ज्ञानात्मा, अक्षरानुबन्धी जीवानुगत कर्म्मात्मा, एवं क्षरानुबन्धी जगदनुगत अर्थात्मा का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय, तथा चार्वाकमूला पूर्वप्रक्रान्ता नास्तिकदृष्टि के समाधान का प्रयास—

इस विवेक से यह भी सिद्ध होगया कि, अव्ययसंस्था में मनोऽवच्छिन्न ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति अव्यय उक्थ है, अतः इस संस्था में ज्ञान की ही प्रधानता है। अतएव इस प्रथमात्मसंस्था को हम "ज्ञानात्मा" कहेंगे। अक्षरसंस्था में प्राणावच्छिन्न ज्ञानकर्म्ममय अक्षर उक्थ है, अतः इस संस्था में कर्म्म की ही प्रधानता है। अतएव इस द्वितीयात्मसंस्था को "कर्म्मात्मा" कहेंगे। क्षरसंस्था में वागवच्छिन्न ज्ञान–कर्म्ममय क्षर उक्थ है, अतः इस संस्था में अर्थ की ही प्रधानता है। अतएव इस तृतीयात्मसंस्था को हम 'अर्थात्मा' कहेंगे। ज्ञानात्मा जानना–करना है, कर्म्मात्मा जानने करने वाला है, एवं अर्थात्मा जानने का विषय, एवं करने का आलम्बन है। इसप्रकार एक ही मूलज्ञान--कर्म्म (अव्ययात्मक ज्ञानकर्म्म) उपाधि–भेद से जानना करना, जानने करने वाला, जानने का विषय, करने का आलम्बन, इन तीन रूपों में परिणत होरहा है। ये सब महामायानुबन्धनी कर्म्मनोदना की कृपा के ही फल हैं—"त्रिविधा कर्म्मनोदना" इसी कर्म्मतारतम्य से एक ही ज्ञान ईश्वरावच्छेदेन ज्ञान, जीवावच्छेदेन परिज्ञाता, जगदवच्छेदेन ज्ञेय इन तीन रूपों में परिणत होरहा है। एवं वही कर्म्म ईश्वरीय ज्ञानानुबन्धी बनकर कर्म्म, जीवसम्बन्धी परिज्ञातानुबन्धी बनकर कर्त्ता, एवं विश्वसम्बन्धी ज्ञेयानुबन्धी बनकर करण बन रहा है। ६ ओं पृथक् होते हुए भी ज्ञान-कर्म्म इन दो तत्त्वों पर ही क्यों विश्रान्त माने गए ?, चार्वाक की प्रत्यक्षदृष्टि क्यों निर्मूल मानी गई ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त, तथा शास्त्रीय उत्तर है।

१२७–'अहम्' भावनिबन्धन--'हम' पदार्थ की तात्त्विक--स्वरूप--मीमांसा, एवं तन्निबन्धन उक्थ--अर्क--अशीति--भावों का सूर्य्यदृष्टान्त--माध्यम से स्वरूप–समन्वय--प्रयास—

"हम जानने वाले हैं, हम करने वाले हैं, इसलिए "हम" पदार्थ ज्ञान--कर्म्म से भिन्न है, यह ठीक है। वह "हम" अक्षर है। परन्तु पूर्व कथनानुसार इसका भी अव्यय के ज्ञानकर्म्म में हीं अन्तर्भाव

सिद्ध होजाता है। अक्षर इस जीवसंस्था का उक्थ बना हुआ अव्ययात्मक ज्ञान--कर्म्म को अर्क बनाकर स्वयं इनका आश्रय बना हुआ है। ज्ञाता अक्षर दूसरी दृष्टि से अव्ययज्ञानानुबन्धी ज्ञान ही है। कर्त्ता अक्षर अव्ययकर्म्मानुबन्धी कर्म्म ही है। ज्ञाता कर्त्तारूप "हम" पदार्थ का अन्वेषण कीजिए, वहाँ आपको ज्ञान-कर्म्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। तैल से प्रकाश होता है, पानी से नहीं। अतएव तैल को हम प्रकाश का सजातीय कह सकते हैं। तैल प्रकाशानुबन्धी बनता हुआ प्रकाश--स्थानीय है। बीज (उक्थ) ही तो वृक्षरूप में परिणत होता है। तैल की दूसरी अवस्था ही तो प्रकाश है। अध्यात्मदृष्ट्या बीज (उक्थ) बने हुए ज्ञाता-कर्त्ता-अक्षर के विकासलक्षण अर्क का ही तो नाम ज्ञान--कर्म्म है। अक्षर को हटा दीजिए, न ज्ञान रहेगा, न कर्म्म। रश्मि और सूर्य्य कहने को दो हैं। दोनों एक ही वस्तु है। एवमेव सूर्य्य-स्थानीय ज्ञाता-कर्त्ता, रश्मिस्थानीय ज्ञान--कर्म्म कहने भर के लिए पृथक् हैं। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं।

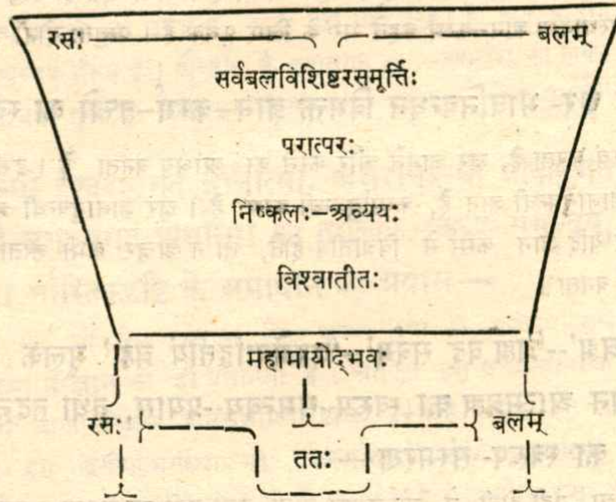
१२८-अक्षर, और क्षर- भावनिबन्धन विभक्त ज्ञान-कर्म्म-तत्त्वों का स्वरूप-समन्वय—

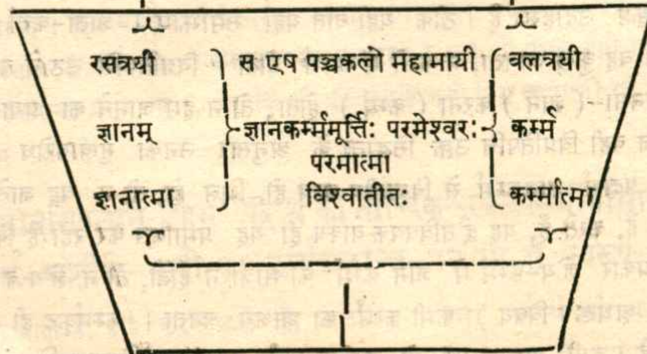
अक्षर जानता, एवं करता है, क्षर जानने और करने का आश्रय बनता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, अक्षर ज्ञानानुबन्धी ज्ञान है, कर्म्मानुबन्धी कर्म्म है। क्षर ज्ञानानुबन्धी ज्ञेय है, कर्म्मानुबन्धी कर्म्म है। अक्षर और क्षर यदि ज्ञान कर्म्म से विजातीय होते, तो न अक्षर कभी ज्ञाता-कर्त्ता बनता, एवं न अक्षर कभी ज्ञेय--कर्म्म बनता।

१२९--'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'--'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'--'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' मूलक श्रौत संस्मरण, एवं तन्निबन्धन आत्मब्रह्म का स्वरूप--समन्वय--प्रयास, तथा तदनुप्राणित ज्ञान--कर्म्म--विवर्त्तों का स्वरूप--संस्मरण—

जिसमें जिसकी मात्रा नहीं होती, न वह उसका ज्ञाता कर्त्ता नहीं बन सकता, एवं न ज्ञेय-कर्म्म बन सकता, यह विज्ञानसिद्ध विषय है। उदाहरण के लिए रसनेन्द्रिय को ही सामने रखिए। रसना के द्वारा हम मधुर-कटु-तिक्त--कषायादि जितनें भी रसों का आस्वादन करते हैं, वे सब रस बीजरूप से पहिले से ही रसनेन्द्रिय में प्रतिष्ठित है। जिसमें जो रस बीजरूप से प्रतिष्ठित नहीं है, अथवा रोगात्मक कारणों से जिसका वह मूलरस नष्ट हो गया है, किंवा अभिभूत होगया है, उसे तद्रसाभिव्यञ्जक भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध से भी तद्रस का अनुभव नहीं होता। सम्बन्ध में दोनों ओर के सजातीय अंश भाव अपेक्षित हैं, इस सम्बन्ध में यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ठीक यही बात यहाँ समझिए। ज्ञाता-कर्त्ता में यदि ज्ञान-कर्म्म मात्रा नहीं होती, तो न वह कुछ जानता, न करने में समर्थ होता। विप्रतिपत्ति उठाने वाले ने कहा था कि, यदि ज्ञाता-कर्त्ता ही जानना--(ज्ञान) करना (कर्म्म) होता, तो न हम जानने का प्रयास करते, न करने का प्रयास करते। आज वही विप्रतिपत्ति उक्त सिद्धान्त के अनुसार उनका मुखावरोध कर रही है। यदि ज्ञाता-कर्त्तारूप 'हम" पदार्थ ज्ञानकर्म्म से विजातीय तत्त्व हो, भिन्न हो, तो न वह जाने, न करै। "हम" (ज्ञाता-कर्त्ता) जानते हैं, करते हैं, यह द्वैतविषयक वाक्य ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, हम ज्ञानमय हैं, एवं कर्म्ममय हैं। इसीप्रकार ज्ञेय-कर्म्म में ज्ञान कर्म्म की मात्रा न होती, तो न ज्ञेय कभी ज्ञान के गर्भ में समाता, एवं न कर्म्म (अर्थरूप विषय) कभी कर्म्म का आश्रय बनता। कर्म्मकूट ही तो द्रव्य (विषय) रूप में परिणत हुआ है। इसी आधार पर तो नास्तिकदर्शन का "अर्थक्रियाकारित्त्वं सत्" यह लक्षण

प्रतिष्ठित है। इसप्रकार अब इस कथन में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि—"ज्ञान कर्म्म के अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व नहीं है। ज्ञानकर्म्म की समष्टि ही ईश्वरप्रजापति है। हम भी (अक्षरधिया) उसी के अंश बनते हुए ज्ञानकर्म्ममय हैं, यह विश्व भी (क्षरधिया) उसी का अंश बनता हुआ ज्ञान-कर्म्ममय है।। वही वह है, वही हम है, वही विश्व है। सब कुछ वही है, और वह "वही" ज्ञानकर्म्म की समष्टिमात्र है—"ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म-नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों से कौन आस्तिक भारतीय अपरिचित है ?। यही परिचय, शास्त्रीय परिचय सच्चा परिचय है। यही शास्त्रकथन की निःसदिग्धा प्रमाणिकता है। और यही प्रामाणिकता हमारी उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) है।





विश्वात्मा १–क्षराक्षरगर्भितः —अव्ययः (ईश्वरः)
विश्वचरः २–क्षराव्ययगर्भितः —अक्षरः (जीवः)
विश्वम् ३–क्षराव्ययगर्भितः—क्षरः (जगत्)
} तदिदं सर्वम्



१–उक्थम्—अव्ययः (ज्ञानम्)—भोक्ता
२–अर्कः——अक्षरः (क्रिया)—भोगसाधनम्
३–अशीतिः—क्षरः (अर्थः)—भोग्यम्
} ज्ञानात्मा–ईश्वरः (ज्ञान-कर्म्म)

—*—

१–उक्थम्—अक्षरः (क्रिया)—भोक्ता
२–अर्कः——अव्ययः (ज्ञानम्)—भोगसाधनम्
३–अशीतिः—क्षरः (अर्थः)—भोग्यम्
} कर्म्मात्मा–जीवः (ज्ञाता-कर्त्ता)

—*—

१–उक्थम्—क्षरः (अर्थः)—भोक्ता
२–अर्कः——अक्षरः (क्रिया)—भोगसाधनम्
३–अशीतिः—अव्ययः (ज्ञानम्)—भोग्यः
} अर्थात्मा–जगत् (ज्ञेय-करण)

—*—

१३०–आश्रमव्यवस्थानुबन्धी ज्ञान--कर्म्म--भावों की क्रमवर्थता, तथा पुरुषार्थता का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ज्ञान--कर्म्ममय--ईश्वर--प्रजापति के अंशरूप जीव में जब ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त और कोई तीसरा तत्त्व नहीं बचता, तो इस से यह भी सिद्ध होजाता है कि, इन स्वरूप-लक्षणा दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास कर लेना हीं जीव का परमपुरुषार्थ है, एवं यही जीव की ईश्वरभावप्राप्ति, दूसरे शब्दों में ईश्वरभाव में परिणति है, जैसाकि कर्म्मप्रकरणान्तर्गत **आश्रमविज्ञान** में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

१३१–प्रत्यगात्मा के सहज विकासानुग्रह से वञ्चित शारीरकात्मा की ज्ञान–कर्म्म–स्वातन्त्र्यानुगता कुण्ठतता—

जीवात्मसंस्था में अव्ययानुबन्धी ज्ञान–कर्म्म, किंवा ब्रह्म–कर्म्ममय अव्ययात्मा प्रत्यगात्मारूप से प्रतिष्ठित है। स्वयं अक्षरप्रधान जीवात्मा शीरीरक आत्मा है। शारीरक आत्मा में भी ज्ञान–कर्म है। चिदंशलक्षण प्रत्यगात्मा के ज्ञान–कर्म दोनों का बुद्धि के द्वारा इस शारीरक आत्मा पर अनुग्रह होरहा है। परन्तु आसक्तिजनित वासनाकषाय से बुद्धिगत चिदंश के ज्ञान–कर्म्म मलिन होरहे हैं। इसी मलिनता ने ज्ञान–कर्म्ममय प्रत्यगात्मा की वास्तविक ज्ञान–कर्म्म–शक्ति से शारीरक आत्मा को वञ्चित कर रक्खा है। इसी अनुग्रह के अभाव से शारीक आत्मा की ज्ञान–कर्म दोनों शक्तियाँ कुण्ठित होरही हैं।

१३२–शारीरकात्मा की ज्ञान–कर्म्मानुगता–इच्छाओं की स्वतन्त्रता के निरोध का कारणान्वेषण–प्रयास—

खगोल पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो वहाँ हमें विविध प्रकार के नक्षत्र–ग्रह दिखलाई देते हैं। स्वाभाविक ज्ञान की प्रेरणा से हम इन के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान कुण्ठित होजाता है। हमारी इच्छा का अवरोध होजाता है। इसीप्रकार विश्व में असंख्य पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें जानने की लालसा सतत बनी रहती है, फिर भी हम उन्हें जानने में असमर्थ बने रहते हैं। उसी आवारण की कृपा से हमारा वह ज्ञान कुण्ठित होरहा है। अतएव इच्छा रखते हुए भी, इच्छापूर्त्ति के साधनभूत ईश्वरीय ज्ञान से नित्य युक्त रहते हुए भी हम इस इच्छापूर्त्ति में असमर्थ रहते हैं।

१३३–ईश्वरीय ज्ञान–कर्म्म से समन्वित भी जीव की इच्छाओं के निरोध का स्वरूप–दिग्दर्शन—

यही अवस्था कर्म्म की है। कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा का भी पद पद पर निरोध होता रहता है। इच्छा होती है कि, पर्जन्यदेवता की भाँति हम भी वृष्टिकर्म्म के अधिष्ठाता बन जायँ, अपने कर्म्म से संसार का क्लेश हटादें, परन्तु सब व्यर्थ। हम अपने कर्म्म से हमारा ही क्लेश नहीं हटा सकते। बड़ी बड़ी उदात्त भावानाएँ उठतीं हैं, परन्तु असमर्थता के कारण मन मसोस कर रह जाना पड़ता है। चाहते हैं, परन्तु कर नहीं सकते, जबकि इच्छानुकूल कर्म्मपूर्त्ति का साधक ईश्वरीय कर्म्म हमारे साथ नित्ययुक्त है।

१३४–कुण्ठावृत्ति का निरोधक सुप्रसिद्ध ज्ञानयोग, तथा कर्म्मयोग का स्वरूप–संस्मरण—

इसप्रकार वासनासंस्कारानुबन्धी परिमित ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में सर्वथा सीमित, एवं परिगणित ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त न हम कुछ जान सकते, न जानते, न कुछ कर सकते, एवं न करते। हाँ यदि वह आवरण किसी उपाय से हट जाय, तो उस दशा में सर्वज्ञ–सर्वकर्म्मा उस प्रत्यगात्मा के ज्ञान–कर्म्म के साथ एकीभाव होजाने से शारीरक आत्मा के ज्ञान–कर्म्म का सीमाभाव अवश्य ही हट सकता है।

एवं उस परिस्थिति में ईश्वरभाव में परिणत जीवात्मा भी अवश्य ही सर्वज्ञ--सर्वकर्म्मा बन सकता है। वही उपाय **कर्म्मयोग-ज्ञानयोग** नाम से प्रसिद्ध है। कर्म्मयोग से जीवात्मा की कर्म्मशक्ति का विकास होजाता है, एवं ज्ञानयोग से जीवात्मा की ज्ञानशक्ति का विकास होजाता है।

१३५-फलकामासक्ति, तथा अनासक्ति--भावनिबन्धन कर्म्मयोग के विभिन्न-स्वरूपों का संस्मरण, एवं कामासक्ति--परित्याग की अनुगति—

आज भी हम जो कुछ कर्म्म करते हैं, उससे शक्तिलाभ अवश्य ही होता है। परन्तु फलकामासक्ति के कारण वह प्रवृत्तकर्म्म उस शक्ति का साथ साथ ही ह्रास भी करता रहता है। यही नहीं, संस्कारों का आत्यन्तिक आवरण आगे जाकर इस रही सही कर्म्मशक्ति को भी शिथिल कर देता है। फलकामना से कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को यदि अपने इस कर्म्म से ऐच्छिक फल मिल जाता है, तब तो फिर भी यह आगे यथाकथंचित् कर्म्म में प्रवृत होने की इच्छा करता है। दुर्भाग्य से यदि इसे ऐच्छिक फल न मिला, तो यह भविष्य के लिए फल की ओर से निराश होता हुआ कर्म्म ही छोड़ बैठता है। ऐसी दशा में हमें कहना पड़ेगा कि, प्रवृत्तिमूलिका, फलकामासक्ति का अनुगामी कर्म्मशक्ति के विकास के स्थान में कर्म्मासक्ति के अभिभव का ही कारण है। इसी दोष को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने इस प्रचलित कर्म्मयोग में थोड़ा सा संशोधन करना आवश्यक समझा, और उस संशोधन का मूलाधार रहा-एकमात्र-"फलकामासक्ति का परित्याग"।

१३६-कर्म्मयोगनिबन्धना आधिभौतिक--सम्पत्ति का स्वरूप--दिग्दर्शन—

फलकामासक्ति का परित्याग हुआ, कर्म्म में शक्ति का उदय भी हुआ। परन्तु फिर भी प्रधान उद्देश्य क्योंकि कर्म्म ही रहा, अतएव यह कर्म्मयोग "आधिभौतिक" सम्पत्ति का ही अधिष्ठाता माना गया। पाठकों को स्मरण होगा कि, प्रकरणारम्भ में हमनें एक ही विश्वात्मा के विश्व-विश्वातीत, ये दो रूप बतलाए हैं, एवं दोनों में विश्व को कर्म्मप्रधान बतलाया है, एवं विश्वतीत ज्ञानप्रधान माना गया है।

१३७-भौतिक कर्म्मयोग से सर्वथा विभिन्न ज्ञानयोग की आधिदैविक-सम्पत्ति का स्वरूप-संस्मरण—

ये ही दोनों आत्मविवर्त्त संकेतभाषा में **परलोक-इहलोक** नाम से प्रसिद्ध हैं। विश्वातीत ज्ञानात्मा, किंवा आत्मा का ज्ञान भाग परलोक है, विश्व कर्म्म, किंवा आत्मा का कर्म्मभाग इहलोक है। एक ही आत्मा के ज्ञान-कर्म्म के तारतम्य से ये दो स्थान होजाते हैं—"**इदं च परलोकं च स्थानम्**"। कर्म्मरूप विश्व-भाग इहलोक है। यही उस आत्मा का कर्म्ममय आधिभौतिक प्रपञ्च है। ज्ञानमय विश्वातीत भाग परलोक है, यही उस आत्मा का ज्ञानमय आधिदैविक प्रपञ्च है। ऐसी दशा में हमें यह मान लेना पड़ेगा कि, कर्म्म-योग का आधिभौतिक जगत् (विश्व से सम्बन्ध है, एवं ज्ञानयोग आधिदैविक जगत् (विश्वातीत) का उप-कारक है।

१३८- फलत्यागानुगत-संशोधित-कर्म्मयोग की आधिभौतिक-विभूतियों का संस्मरण, एवं तदनुप्राणित कर्म्मयोग का गीतानुमोदित स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यह ठीक है कि, फलत्याग से कर्म्म आसक्ति का जनक नहीं बनेगा। यह भी ठीक है कि, यह निष्काम कर्म्म आंशिकरूप से आधिदैविकलक्षणा ज्ञानसम्पत्ति से भी युक्त होजायगा। यह भी ठीक है कि, यह निष्काम कर्म्म बन्धन का भी कारण नहीं बनेगा। यह सब कुछ होने पर भी इसका सम्बन्ध केवल आधिभौतिक प्रपञ्च से ही माना जायगा। कारण स्पष्ट है। कर्म्मयोग में जो ज्ञान है, वह क्रत्वर्थ है, स्वयं कर्म्म पुरुषार्थ है। यहाँ कर्म्म ज्ञान के लिए नहीं है, अपितु ज्ञान कर्म्म के लिए है। ज्ञान कर्म्म का उपकारक मात्र है, लक्ष्य कर्म्म ही है। अतः निष्कामभावानुबन्धी अबन्धन ज्ञान से युक्त रहता हुआ भी यह कर्म्मयोग ऐहलौकिक ही माना जायगा। दूसरी बात यह है कि, इसके साधन भी सब आधिभौतिक ही हैं। फल की यद्यपि इच्छा नहीं है, और वह फल इसके बन्धन के भी कारण नहीं है, फिर भी कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता। अवश्य ही यथावत् अनुष्ठित कर्म्म फल उत्पन्न करता है। वह फल होगा आधिभौतिक स्वर्गादिफल विश्वसीमा के भीतर रहते हुए आधिभौतिक ही मानें जायँगे। यह टीक है कि, ये फल इसे बन्धन में नहीं डालेंगे। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, जिसप्रकार फलेच्छा रखकर कर्म्म करने वाले व्यक्ति को फलाभिसन्धि के आकर्षण से स्वर्गफल--भोगानन्तर पुनः जन्म लेना पड़ता है, वैसे इस निष्काम--कर्म्मयोगी को स्वर्गातिशय समाप्ति के अनन्तर निष्कामभाव के प्रभाव से पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। प्रवृत्ति–निवृत्ति में यही अन्तर है। फिर भी फलाभिसन्धि से इसे वञ्चित नहीं माना जासकता। इसप्रकार कर्म्मयोग में साध्य–साधन दोनों दृष्टियों से आधिभौतिक प्रपञ्च का अनुगामी बनता हुआ "ऐहलौकिक" ही माना जायगा। यही गीता का संशोधित कर्म्मयोग है। हम इस सम्बन्ध में पाठकों से विशेष आग्रह करेंगे कि, वे कर्म्मयोग के इन दोनों स्वरूपों को ध्यान में रक्खें। तभी गीता की बुद्धियोगनिष्ठा का यथावत् समन्वय होसकेगा। प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग में फल की ओर मानसशक्ति बँटी रहती है। अतएव पहिले तो उस कर्म्मसिद्धि में हीं सन्देह रहता है। यदि घुणाक्षरन्याय से कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हो भी जाता है, तब भी फलचर्वणा से अशान्ति–लक्षण क्षोभ बना रहता है। फलसंस्कार के बन्धन से आत्मा की स्वाभाविक-कर्म्मशक्ति भी दान्त रहती है।

१३९–संशोधित कर्म्मयोग, और 'धर्म्मबुद्धियोग' का स्वरूप-समतुलन—

उधर निवृत्तिमूलक कर्म्म में फलकामना के अभाव से मानसशक्ति का पूर्ण उपयोग अधिकृत कर्म्म में हीं होता है। फलतः कर्म्मसिद्धि में कोई सन्देह नहीं रहता। साथ ही फल मिलता है, बन्धन नहीं होता। 'फलभोगानन्तर भी निष्कामभाव के प्रभाव से सद्गति ही होती है। हाँ, साध्य–साधन, दोनों दृष्टियों से दोनों का लक्षण— **"जिनके साधन भी आधिभौतिक हैं, साध्य फल भी आधिभौतिक हैं, उन कर्म्मकलापों का संग्रह ही कर्म्मयोग है"** यही किया जायगा। यह तो हुई नाप्राप्त संशोधित कर्म्मयोग की, किंवा गीता के शब्दों में—**"धर्म्मबुद्धियोग"** की संक्षिप्त--व्याख्या। अब प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

१४०–ज्ञानयोग के साधन, और साध्यों की आधिदैविकता का स्वरूप–दिग्दर्शन—

जिसप्रकार कर्म्मयोग से आत्मा का कर्म्मभाग शक्तिशाली बनता है, एवमेव ज्ञानयोग आत्मा की ज्ञानशक्ति का उपकारक है। इस योग में साध्य–साधन दोनों आधिदैविक (ज्ञानमय) ही माने जायँगे। जिन

साधनों से ज्ञानयोग की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, वे साधन ज्ञानात्मक बनते हुए आधिदैविक हैं। इन आधिदैविक साधनों से निष्पन्न ज्ञानयोग का फल भी आधिदैविक ही है। **"जिसके साधन-साध्य दोनों आधिदैविक है, वही ज्ञानयोग है"** ज्ञानयोग का यही लक्षण माना जायगा, जैसाकि आगे जाकर लक्षण-व्याख्या से स्पष्ट होजायगा।

१४१–निवृत्ति, और प्रवृत्ति शब्दों के समावेश से लोकप्रचलित कर्म्मयोग, तथा ज्ञानयोग का संशोधन प्रयास—

जिसप्रकार कर्म्म आधिभौतिक है, एवमेव ज्ञान आधिदैविक है। लोकप्रचलित इस ज्ञानयोग का यही स्वरूप था कि, कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग कर देना चाहिए, जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है। इसमें भगवान् ने संशोधन किया। जिसप्रकार कर्म्मयोगलक्षण प्रवृत्तिमार्ग में कामनिवृत्ति का समावेश किया, एवमेव ज्ञानयोगलक्षण निवृत्तिमार्ग में कर्म्मप्रवृत्ति का समावेश किया। इसप्रकार कामनिवृत्ति–कर्म्मप्रवृत्ति के समन्वय से कर्म्मयोग को भी बुद्धि का रूप देडाला, एवं कर्म्म–प्रवृत्ति से ज्ञानयोब को भी बुद्धियोग का रूप देडाला।

१४२–कर्म्मयोग, तथा ज्ञानयोग के विभिन्न भावानुबन्धी क्रत्वर्थ–पुरुषार्थ–भावों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जिसप्रकार निवृत्तिभाव के अनुग्रह से ज्ञान से युक्त रहता हुआ भी कर्म्मयोग पुरुषार्थ बनता हुआ, साथ ही साध्य–साधन–रूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ ऐहलौकिक योग ही कहलाया। एवमेव कर्म्मप्रवृत्ति से युक्त रहता हुआ भी ज्ञानयोग पुरुषार्थ बनता हुआ, साथ ही साध्य–साधनरूप से उभयथा आधिदैविक ही बनता हुआ पारलौकिक योग ही माना जायगा। ज्ञानयोग में ज्ञानलक्षण निवृत्तिकर्म्म साधक है, ज्ञान साध्य है। कर्म्म क्रत्वर्थ है, ज्ञान पुरुषार्थ है। वह क्रत्वर्थ कर्म्म योगात्मिका उपासना ही है, जिसका कि कर्म्मयोगोपसंहारप्रकरण में हिरण्यगर्भनिष्ठा नाम से विश्लेषण किया जाचुका है। राजयोगात्मिका भक्ति में तो आधिभौतिक पदार्थों का सहयोग अपेक्षित है। परन्तु ज्ञानयोग की साधनभूता उपासना केवल मानसभाव से सम्बन्ध रखती हुई आधिदैविक ही है। अतः हम–साध्य–साधनरूप से उभयथा ज्ञानयोग को आधिदैविक ही कहेंगे।

१४३–सृष्टि, तथा लय-भावानुबन्धी तारतम्य से अनुप्राणित ज्ञान, और विज्ञानभावों का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकारान्तर से देखिए। आत्मा का कर्म्मविवर्त्त विश्व है, यह नानाभावोपेत है। आत्मा का ज्ञान–विवर्त्त विश्वातीत है, यह एकाकी है। एकाकी ज्ञान ही कर्म्मरूप में परिणत हुआ है। नानाविध कर्म्म ही अन्त में एकरूप में परिणत होजाता है। इसी दृष्टि से इन दोनों आत्मविवर्त्तों को क्रमशः **ज्ञान-विज्ञान**–शब्दों से व्यवहृत किया जासकता है। ज्ञान तो ज्ञान है ही, परन्तु कर्म्म भी एकप्रकार का ज्ञान ही है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, विश्वातीत ज्ञान ज्ञान है, विश्वात्मक ज्ञान विविधरूप में परिणत होता हुआ विज्ञान है। ज्ञान का नानात्त्व ही कर्म्म है, यही **विविधं ज्ञानं** के अनुसार विज्ञान है। कर्म्मात्मक वही आत्मा विज्ञानघन है, ज्ञानात्मक वही आत्मा ज्ञानघन है। सृष्टिदशा में ज्ञानघन विश्वातीत ज्ञानात्मा विज्ञानमूर्त्ति है, प्रलयदशा में विज्ञानघन विश्वरूप कर्म्मात्मा ज्ञानमूर्त्ति है।

१४४-सञ्चर, तथा प्रतिसञ्चर-भावानुबन्धी विज्ञान, तथा ज्ञान-भावों का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धना अपराविद्या, पराविद्याओं का स्वरूप-दिग्दर्शन, और तत्समर्थक विभिन्न श्रौत-वचन—

ब्रह्म ज्ञानपदार्थ है। इस ज्ञान की ही संचर-प्रतिसंचर इन को अवस्थाओं से विज्ञान-ज्ञान दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। उस एक ब्रह्मज्ञान का नानाविध विश्वज्ञानों में परिणत होजाना हीं विज्ञानकाण्ड है। इस नानाविध विश्वविज्ञान का मूलज्ञानरूप में परिणत होजाना हीं ज्ञानकाण्ड है। एक का अनेकरूप में परिणत होजाना हीं विज्ञानपक्ष है, अनेक का एकरूप में परिणत होजाना हीं ज्ञानपक्ष है। ब्रह्म ही विद्या है। इस ज्ञान-विज्ञान भाव से एक ही ब्रह्मविद्या के पराविद्या-अपराविद्या, नामक दो भेद होजाते हैं। ज्ञानविद्या पराविद्या है, विज्ञानविद्या अपराविद्या है। अपराविद्या विश्वविद्या है, पराविद्या विश्वातीतविद्या है। विश्वातीत ज्ञान है, विश्वविज्ञान कर्म्म है। वही ज्ञान है, वही विज्ञान है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुति उसी के ज्ञान-रूप का प्रतिपादन कर रही है, एवं "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति उसी के विज्ञानरूप का स्पष्टीकरण कर रही है। ज्ञान विज्ञान से अभिव्यक्त है, तो विज्ञान ज्ञान से स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। ज्ञान विज्ञान के बिना अप्राप्य है, विज्ञान ज्ञान को आधार बनाए बिना अपने मृत्युबल से अप्रतिष्ठित है। ज्ञान वही उपादेय कहा जायगा, जिस का कि आधार विज्ञान होगा। विज्ञान वही नित्यविज्ञान माना जायगा, जिसके कि मूल में ज्ञान प्रतिष्ठित होगा। इहीं दोनों ज्ञान विज्ञान-प्रक्रमों का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। —ज्ञानम्
२—ब्रह्मैवेदं सर्वम्" । —विज्ञानम्

—— :※: ——

१ सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः। —ज्ञानम्
२-प्रजापतिस्त्वेदं सर्वं यदिदं किञ्च। -विज्ञानम्

— —※— —

१-पुरुष एवेदं सर्वम् । —ज्ञानम्
२-एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् । —विज्ञानम्

१४५-एकत्त्व-अनेकत्त्वमूला-उद्दश्य-विधेयता के विपर्य्ययों से अनुप्राणिता ज्ञान-विज्ञान-सम्पत्तियों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं ज्ञान-विज्ञान-भावों से अनुप्राणित इदं लोकं, और परञ्च लोकं का स्वरूप-समन्वय—

सर्व को उद्देश्य मान कर उस के स्थान में एकत्त्व का विधान करना हीं ज्ञानपक्ष है। अनेकत्त्व-प्रतियोगिक, एकत्त्वानुयोगिक ज्ञान ही ज्ञान है। 'यह सब कुछ ब्रह्म है'-'सब कुछ प्रजापति ही है' "यह सब कुछ पुरुष ही है" इत्यादि वचन सर्व को उद्देश्य मान कर एकत्त्व का विधान करते हुए ज्ञानपक्ष के ही समर्थक बन रहे हैं। इसीप्रकार एकत्त्व को उद्देश्य मान कर उसके स्थान में सर्व (अनेकत्त्व) का विधान करना विज्ञानपक्ष है।

एकत्वप्रतियोगिक, अनेकत्वानुयोगिक ज्ञान ही विज्ञान है । "ब्रह्म ही सबकुछ है"–"प्रजापति–ही यह सब कुछ बना हुआ है, जोकि विश्व में अस्ति कहने योग्य पदार्थ हैं"–"एक ही का यह सम्पूर्ण वैभव है" इत्यादि वचन एकत्व को उद्देश्य मान कर सर्वत्व का विधान करते हुए विज्ञानपक्ष के ही समर्थक बन रहे हैं । तात्पर्य्य इस विवेचन का यही है कि, जिसप्रकार एक ही गति अर्वाग्गति–पराग्गति, इन दो प्रक्रमभेदों से **आगति–गति**, इन दो स्वरूपों में परिणत होजाती है, एवमेव एक ही आत्मा, एक ही ब्रह्म, एक ही ज्ञान, एक ही विद्या विश्व–विश्वातीत, इन दो प्रक्रम भेदों से ज्ञान-विज्ञान, इन दो स्वरूपों में परिणत होरही है । इधर आता हुआ वही ज्ञान विज्ञान है, उधर जाता हुआ वही विज्ञान ज्ञान है । इदंस्थान विज्ञान है, परलोकस्थान ज्ञान है । आत्मा के ये ही दो स्थान हैं—"**इदं च परलोकं च स्थानम्**" । इदंस्वरूप विषय है, परलोकत्व विषयी है । विषय कर्म्मप्रधान, किंवा विज्ञान–प्रधान है, यही विश्व है । विषयी ज्ञानप्रधान है, यही विश्वातीत है । इस की शोभा उस से है, उस की शोभा इस से है । उस का ज्ञान इस पर अवलम्बित है, इस का ज्ञान उस पर अवलम्बित है । यह वह है, वह यह है । ज्ञानयोग कर्म्मयोग है, कर्म्मयोग ज्ञानयोग है । सांख्य–निष्ठा ज्ञाननिष्ठा है, योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) विज्ञाननिष्ठा है । अज्ञ मनुष्य जहाँ दोनों को दो समझते हैं, वहाँ बुद्धियोगी की दृष्टि में दोनों एक वस्तु है—

सांख्य-योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

१४६–"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

विश्वगर्भ में समाविष्ट चर–अचर जितनें भी पदार्थ है, सब के नाम-रूप-कर्म्म परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । इन सब विभिन्नों का एक कारण बतलाते हुए एकत्व व्यवस्था करना हीं ज्ञानपक्ष है । उदाहरण के लिए मृण्मय विवर्त्त को ही लीजिए । घट–उदशराव आदि मिट्टी के जितने भी पात्र हैं, वे परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नाम–रूप–कर्म्म रखते हैं । इस दृष्टि से संख्या में ये मृण्मय पदार्थ असंख्य हैं । परन्तु कारणरूपा मिट्टी की अपेक्षा से सब एक हैं, अभिन्न हैं–"**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**" ।

१४७–'सुवर्णम्-इत्येव-सत्यम्' मूलक दृष्टान्त के माध्यम से स्थिति का स्वरूप-समन्वय—

कटक, कुण्डल, मणिमाला, काञ्ची, केयूर आदि सभी सुवर्ण–आभरण परस्पर भिन्न हैं । परन्तु सब सुवर्णदृष्टि से अभिन्न हैं । सुवर्ण ही यह सब कुछ बना हुआ है । सब का विश्राम एक सुवर्ण पर है–"**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं–सुवर्णमित्येव सत्यम**" ।

१४८–'सूत्रमित्येव सत्यम्' मूलक उदाहरण के माध्यम से स्थिति का स्वरूप-समन्वय, एवं सर्वान्त-विश्रामभूमिरूप ब्रह्म का स्वरूप-संस्मरण—

उष्णीष, अधोवस्त्र, स्वक्त्र, आदि सभी वस्त्र परस्पर भिन्न हैं । परन्तु सूत्र (तन्तु) दृष्टि से सब एक है । सूत्र ही यह सब कुछ बना हुआ है । सब का विश्राम एकसूत्र पर है—"**वाचारम्भणं विकारो नाम–धेयं सूत्रमित्येव सत्यम्**" । घट–पट–मठ–सुवर्ण–रजत–लौह–सीसक–ओषधि–वनस्पति–नद–नदी तड़ाग–

कूप–वापी–सागर–उदधि–पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश––सूर्य्य-चन्द्रमा––इन्द्र–वरुण–रुद्र––अग्नि-कुबेर–यम–मृत्य-निॠति–ईशान–ब्रह्मा–विष्णु–सत्य–ॠत–भृगु–अङ्गिरा–यक्ष–राक्षस–पिशाच-गन्धर्व-पितर–ॠषि असुर–पशु–पक्षी–मनुष्य आदि आदि सब पदार्थ परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं। परन्तु इन सब का मूलकारण क्योंकि एक ब्रह्म तत्त्व है, अतएव इस दृष्टि से हम इन सब को अभिन्न ही मानेंगे किसी भी पदार्थ को सामने रख लीजिए, और विज्ञानदृष्टि से उस का विशकलन कीजिए। अन्त में आपको उसी ब्रह्म पर अन्तिम विश्राम मानना पड़ेगा।

१४९–पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतादि की क्रमिक–उपपत्ति का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय, तन्निबन्धन कार्य्यकारणस्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुप्राणित–'ब्रह्म––इत्येव सत्यम्' का स्वरूप––समन्वय, और कर्म्मशून्या–सांख्यलक्षणा––ज्ञाननिष्ठा की आत्यन्तिकी काल्पनिकता का दिग्दर्शन—

घट का कारण मिट्टी है। यदि घट में से मिट्टी निकाल दी जाय, तो घट का नाम–रूप–कर्म्म कुछ भी शेष न रहे, अतएव हम घट को 'मिट्टी' कह सकते हैं। "**अद्भ्यः पृथिवी**" इस सिद्धान्त के अनुसार पानी हीं मिट्टी का कारण है। यदि मिट्टी में से आप्यपरमाणु निकाल दिए जाएँ, तो मिट्टी का कुछ भी स्वरूप न बचे। अतएव हम मिट्टी को 'पानी' कह सकते हैं। अप्तत्त्व का विशकलन कीजिए, तेज उपलब्ध होगा। "**अग्नेरापः**" के अनुसार आग्नेय––परमाणुओं के संघर्ष की अवस्थान्तर का ही नाम पानी है। यदि ये निकाल दिए जाएँ, तो पानी का कोई स्वरूप ही न रहे। अतएव मिट्टी को 'अग्नि' कहा जासकता है। अग्नि का स्वरूप वायव्य-परमाणुओं के संघर्ष पर अवलम्बित है-"**वायोरग्निः**"। इस दृष्टि से मिट्टी वायु हैं। वायु का स्वरूप भूताकाश की चिति का रूपान्तर है, "**आकाशाद्वायुः**"। अतएव मिट्टी आकाश है। आकाश आत्मा की (ज्ञानब्रह्म की) सम्भूति है–"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**",। अतएव मिट्टी साक्षात् ब्रह्म है–"**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, ब्रह्म इत्येव सत्यम्**"। इसप्रकार सम्पूर्ण भूत सत्ता–परम्परा से उस ज्ञानमूर्ति एक ही ब्रह्म पर विश्रान्त हैं। इसी से यह भी सिद्ध होगया कि, उस एक पर पहुँचने के लिए अनेकों को आधार बनाना पड़ता है। अनुयोगी ज्ञान की प्राप्ति तबतक सर्वथा असम्भव है, जबतक कि प्रतियोगी विज्ञान (कर्म्म) का आश्रय नहीं लिया जाय। कर्म्मरूप विज्ञान ही ज्ञानप्राप्ति का अन्यतम द्वार है। कर्म्मशून्य ज्ञान अज्ञान है, अतएव कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा एक काल्पनिक वस्तुमात्र ही है।

१५०–'ब्रह्म वा इदमग्रे–एक एवासीत्, नान्यत् किञ्चन––मिषत्' श्रुति का तात्त्विक––स्वरूप–समन्वय, तन्निबन्धन–'एकोऽहं बहु स्याम्' का संस्मरण, तथा तदनुप्राणिता–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति का स्वरूप––दिग्दर्शन—

अब विज्ञानपक्ष पर दृष्टि डालिए। एक ही अनेक बना है, इस विज्ञान का ही नाम विज्ञानपक्ष है। "**ब्रह्म वा इदमग्रे–एक एवासीत्**"–**नान्यत् किञ्चन मिषत्**" इस सिद्धान्त के अनुसार जब यह नानाभावात्मक प्रपञ्च न था, उस समय ब्रह्म ही एकाकी था। मायाबलानुबन्धिनी सृष्टिकामना से वही–("**एकोऽहं बहु स्याम्**" इस कामना से ही) एक अनेक रूप में परिणत होगया। सबसे पहिले वह स्वयम्भूरूप आकाश बना। आकाश ब्रह्म की स्थूलावस्था कहलाई। आकाश की स्थूलावस्था वायु, वायु

की अग्नि, अग्नि की जल, जल की मिट्टी, इसप्रकार क्रमशः स्थूल बनता हुआ, नानाभावोपेत बनता हुआ वह एक ही अनेक रूपों में परिणत होगया। इसके साथ साथ उस एक का अनुप्रवेश भी धारावाहिक रूप से प्रवाहित होता रहा। अर्थात् आकाश उत्पन्न हुआ, यह आकाश उस का विज्ञान रूप कहलाया, "तत्–सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस सिद्धान्त के अनुसार वह ज्ञानरूप से इस में प्रविष्ट होगया। आकाशरूप विज्ञान (कर्म्म) उस का सृष्ट (विश्व) रूप है, ततप्रविष्ट ज्ञानब्रह्म उस का विश्वातीतरूप है। यही क्रम आगे समझिए। प्रत्येक विज्ञान उस का सृष्ट रूप, यही विश्व, प्रत्येक विज्ञान में प्रविष्ट वही विश्वातीत। इस दृष्टि से प्रत्येक भेद में अभेद, प्रत्येक विज्ञान में ज्ञान, प्रत्येक कर्म्म में ब्रह्म का आवास सिद्ध होजाता है।

१५१–भगवान् के द्वारा विहित कर्म्म–ज्ञान–योगनिष्ठानुगत संशोधनों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

सम्पूर्ण विश्व ज्ञानगर्भित विज्ञानमूर्त्ति है, विश्वातीत विज्ञानगर्भित ज्ञानमूर्त्ति है। ज्ञानब्रह्म के गर्भ में विज्ञान (कर्म्म) है, विज्ञानब्रह्म के गर्भ में ज्ञान है। ज्ञानगर्भित विज्ञान ही कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। यहाँ ज्ञान क्रत्वर्थ है, साधन है, अतएव गौण बनता हुआ आधिभौतिक–श्रेणि में प्रतिष्ठित है। विज्ञानगर्भित (कर्म्मगर्भित) ज्ञान ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है, यहाँ कर्म्म क्रत्वर्थ है, साधन है, अतएव गौण बनता हुआ यह आधिदैविक–श्रेणि में प्रतिष्ठित है। यही ज्ञान–कर्म्म योगों का संशोधन है।

१५२–कर्म्मात्मिका योगनिष्ठा, तथा ज्ञानात्मिका सांख्यनिष्ठा की 'एकनिष्ठा' रूपता का रहस्यपूर्ण समन्वय, और तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र—

विज्ञान–सहकृत ज्ञानयोग ही समत्वभाव का प्रवर्त्तक बनता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है, यही सच्ची ज्ञान–निष्ठा है। एवमेव ज्ञानसहकृत (निष्कामभाव–सहकृत) कर्म्मयोग ही समत्वभाव का प्रवर्त्तक बनता हुआ धर्म्मबुद्धियोग है, यही सच्ची योगनिष्ठा है। यह योगनिष्ठा ज्ञानसमावेश से सांख्यनिष्ठा बन रही है, वह ज्ञाननिष्ठा कर्म्मसमावेश से योगनिष्ठा बन रही है। योगानुगता (कर्म्मानुगता) सांख्यनिष्ठा से सांख्य भी उसी लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, एवं ज्ञानानुगता योगनिष्ठा से योगानुयायी भी उसी लक्ष्य पर पहुंचते हैं—

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

१५३–ज्ञाननिबन्धन–'विद्या' शब्द, तदनुगता–महाविद्यात्मिका समष्टिविद्या, खण्ड–खण्डात्मिका व्यष्टिविद्याएँ, एवं सर्वविद्यामूलभूता 'ब्रह्मविद्या' के द्वारा सर्वप्राप्ति का रहस्य–पूर्ण–समन्वय—

महाविश्व समष्ट्यात्मक एक महाविज्ञान है। इस का मूल कारणरूप एक ब्रह्म महाज्ञान है। महा–ज्ञानानुगत महाविज्ञान (समष्ट्यात्मक विश्वविज्ञान) ही आगमशास्त्र में "**महाविद्या**" रूप से निरूपित है।

आगमने महाविद्या को दस भागों में विभक्त कर इसका विश्लेषण किया है, जैसाकि "**दशमहाविद्या* रहस्य**" नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित है। विश्वविज्ञान क्षरविज्ञान है, आत्मविज्ञान अक्षरविज्ञान है। अक्षरविद्या ज्ञानविद्या, किंवा ब्रह्मविद्या है। क्षरविद्या विज्ञानविद्या, किंवा कर्म्मविद्या है। कर्म्मविद्या की प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या है। ब्रह्म मौलिकविद्या है, यही हमारा 'फिजिक्स' है। कर्म्म यौगिक विद्या है, यही हमारी 'केमेस्ट्री' है। ब्रह्म-से यज्ञ (कर्म्म) का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। ब्रह्म पर यज्ञ प्रतिष्ठित है। जिसने ब्रह्मविद्या जानली, वह यज्ञकर्म्म से सब कुछ प्राप्त कर सकता है। वह नियति का उल्लंघन कर नई सृष्टि बना सकता है–"**ब्रह्मविद्यया ह वै मनुष्याः सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते**" (शत० १४ काण्डे)— "**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्**"–"**यं यं कामयते, तं तमाप्नोति**"।

१५४ भारतीय--'पदार्थविज्ञानात्मिका' व्यष्टिविद्याओं के तीन काण्डों से अनुगत अवान्तर विभिन्न विद्याखण्डों का नाम-संस्मरण—

अब संक्षेप से व्यष्टिविज्ञान पर भी दृष्टि डाल लीजिए। सम्पूर्ण विश्व के मूल कारण का विचार समष्टिविज्ञान है, एवं प्रत्येक पदार्थ के कारण की परीक्षा **पदार्थविज्ञान** है। यह पदार्थविज्ञान **आधिभौतिकविज्ञान, आध्यात्मिकविज्ञान, आधिदैविकविज्ञान** भेद से तीन भागों में विभक्त है। ये ही तीनों क्रमशः **पदार्थविज्ञान--शारीरिकविज्ञान--ताराविज्ञान** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन के अवान्तर पुनः **दृग्विज्ञान, अंशुविज्ञान, रसायनविज्ञान, देवताविज्ञान, विद्युद्विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ग्रहविज्ञान, प्राणविज्ञान ऋषिविज्ञान, वृक्षविज्ञान, ओषधिविज्ञान, धातुविज्ञान** आदि आदि अवान्तर असंख्यभेद हैं। इन सब विज्ञानों की समष्टि ही पदार्थविज्ञान है। यही व्यष्टिविज्ञान, किंवा खण्डविज्ञान है।

१५५–उदाहरणविधि से अनुप्राणित-व्यष्टिविज्ञान के अँशभूत 'वृक्षविज्ञान' के उदाहरण का स्वरूप-समन्वय. वृक्ष-बीजानुगता शक्तित्रयी, उत्पादन-साधन-चतुष्टयी, सर्ज्जक शिववायु, निरोधक रुद्रवायु का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा बीजानुगता सप्तपुरुष-पुरुषात्मिका चिति, और चितिस्वरूपसंरचिका वृन्तद्वयी—

किसी भी एक पदार्थ को ले लीजिए। उस पदार्थ में विद्यमान जो अनेक आरम्भक द्रव्य हैं, उनका विशकलन करते हुए नाम--रूप-कर्म्म के द्वारा उनकी छाँट कर देना ही तत्पदार्थविज्ञान कहलाएगा। उदाहरण के लिए वृक्ष को ही लीजिए। वृक्ष में यों तो असंख्य आरम्भक द्रव्य हैं। परन्तु स्थूल विभाग की दृष्टि से **मिट्टी, सौरताप, पानी, बीज** ये चार प्रधान उपादान हैं। बीज को भूगर्त्त में यथाविधि रखकर ऊपर से मिट्टी कोड़ दी जाती है। ऊपर से पानी डाला जाता है। बीज में "**चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा**" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पक्षस्थानीय दो वृन्त रहते हैं, आत्मस्थानीय हृदय है, एवं पुच्छ स्थानीय स्थितितत्त्व हैं। स्थिति ब्रह्मा है—"**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**"। यह मूल में प्रतिष्ठित है। हृदय में अशनायाधर्म्मा विष्णुतत्त्व प्रतिष्ठित है। अग्रभाग में रक्षक शिवतत्त्व प्रतिष्ठित है। मध्यस्थ

---

* दशमहाविद्या का विवेचन–'संस्कृति', और 'सभ्यता' नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध में प्रकाशित होगया है। 'भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड' में भी इस का सङ्केत द्रष्टव्य है।

विष्णु मूलस्थ ब्रह्मा के सहयोग से पार्थिवरस का आदान करते हैं, एवं अग्रस्थित शिव के द्वारा सौररस का आदान करते हैं। पानी का सिञ्चन विष्णु की स्वरूपरक्षा करता है। अप्तत्त्व और विष्णु, दोनों सजातीय हैं। अतएव आपोमय परमेष्ठी--मण्डल के देवता विष्णु माने गए हैं। इसप्रकार मूलस्थ ब्रह्मा, हृदयस्थ विष्णु, अग्रस्थित शिव, इन तीनों शक्तियों का समन्वित रूप ही बीज है *। इस सूक्ष्मबीज (त्रिदेव) के के रक्षक बाहिर के दो वृन्त हैं। रोदसी–त्रैलोक्य के अधिष्ठाता रुद्रदेवता अग्निप्रधान बनते हुए यमवृत्ति से इस बीज पर आक्रमण किया करते हैं। वे दोनों पार्श्वस्थानीय वृन्त ही इस रुद्राक्रमण (आग्नेयवायु) से बीज को बचाते हैं। जबतक बीज को प्रवर्द्धक शिववायु का साहचर्य्य प्राप्त नहीं होजाता, तबतक वृन्त उस गर्भीभूत बीज को कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होने देते। रुद्रवायु के इसी आक्रमण के रोकने के लिए पानी डाला जाता है।

१५६- मूलस्थिता ब्रह्मप्रतिष्ठा के आधार पर मध्यस्थ विष्णु के द्वारा पार्थिव रसाकर्षण, ऊर्ध्वस्थ शिव के द्वारा सौर रसाकर्षण, जलसेक, तन्निबन्धन वृन्त-विस्फोट, अङ्कुरोद्गम, ऊर्ध्व प्ररोहण, एवं प्ररोहण की नियमिता मर्य्यादा से अनुप्राणित चतुरशीतिलक्षभेदभिन्न-'महानात्मा' का स्वरूप-संस्मरण—

पानी शिववायु का सहचारी है। भूगर्भ में बीज–वपन करते हुए पानी के सिञ्चन से जब शिववायु का साम्राज्य होजाता है, तो रुद्रवायु के आक्रमाण का भय जाता रहता है, तब जाकर वह रक्षक–द्वारपाल दोनों वृन्त इतस्ततः प्रस्फुटित होकर उस देवत्रयमूर्ति को स्वव्यापार के लिए अवसर प्रदान करते हैं। ब्रह्मा के द्वारा विष्णु पार्थिव रस का आकर्षण करते हैं, शिव के द्वारा सौररश्मियों को आगे कर सौररस का आदान करते हैं। पानी का शोषण करना सौररश्मि का स्वभाविक धर्म्म है। इसी लालसा से रश्मियाँ अन्नमिश्रित बीज में प्रविष्ट होजातीं हैं। पानी को लेकर रश्मियाँ ऊपर चढतीं हैं। परन्तु पानी में मिट्टी घुली हुई है, अतएव पानी के साथ साथ मिट्टी भी (रश्मि के द्वारा) ऊपर चढ़ने लगती है। रश्मि के द्वारा पानी के साथ ऊपर उठा हुआ पार्थिव भाग ही बीज की पहिली अङ्कुरावस्था है। और पानी डाला जाता है, रश्मियाँ पुनः ऊपर खैंचती हैं। खिचाव के साथ मिट्टी भी खिचती जाती है। पानी बाष्प बनकर सौरमण्डल के गर्भ में चला जाता है, परन्तु पार्थिवाकर्षण की प्रबलता से मिट्टी जहाँ की तहाँ रह जाती है। इस क्रम से कालान्तर में बीज वृक्षरूप में परिणत होजाता है। पानी क्या सतत अप् सिञ्चन से वृक्षसीमा से भी बड़ा बन सकता है ?, इस प्रश्न का समाधान महद्विज्ञान पर ही अवलम्बित है। त्रिदेवलक्षण बीज में एक महानात्मा प्रतिष्ठित रहता है। यही आकृति–प्रकृति–अहंकृतिभावों का अधिष्ठाता है। वृक्ष की

* एकामूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म–विष्णु–महेश्वराः।
मूलतो ब्रह्मरूपाय, मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय, अश्वत्थाय नमो नमः॥
—पुराणे

आकृति का साँचा महान् में पहिले से ही नियत है। उस नियत आयतन पर जाके वृक्षवृद्धि रुक जाती है। दुग्धसिञ्चन से गैंदे का वृक्ष 'पीपलवृक्ष' जितना बढ़ नहीं सकता, तो पिप्पलवृक्ष गैंदे जितना हीं रही नहीं सकता। चतुरशीतिलक्ष आकृतिभावों को अपने गर्भ में नियत रखने वाला महान् ही इस सम्बन्ध में अन्यतम नियन्ता है। एवं यही वृक्षविज्ञान का संक्षिप्त निदर्शन है।

१५७-कार्य्य, और कारण तत्त्व का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, कारणसमूह की कार्य्य के प्रति कारणता, तन्निबन्धन ज्ञान-विज्ञान-भावों की समष्टि-व्यष्टिरूपा-उपादेयता-अनुपेदयता का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं ज्ञानसहकृत विज्ञान की, तथा विज्ञानसहकृत ज्ञान की सर्वरूपता का गीता के माध्यम से रहस्य-पूर्ण-समन्वय-प्रयास—

वृक्षोत्पत्ति के सबन्ध में जितने भी कारण बताए गए हैं, उनमें यदि एक भी कारण न रहेगा, तो वृक्षोत्पति नहीं होगी। इससे हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, व्यष्टिविज्ञानों के एक कारण को कार्य्य के प्रति कारणता नहीं है, अपितु कारणसमष्टि को ही कार्य्य के प्रति कारणता है। उधर समष्टिविज्ञानात्मक विश्वकार्य्य के प्रति एकमात्र ब्रह्म ही कारण है। यह एक कारणतावाद, एवं अनेक कारणतावाद ही समष्टिविज्ञान एवं व्यष्टिविज्ञान के पार्थक्य का कारण है। प्रत्येक पदार्थ के आरम्भक द्रव्यों का नाम-रूप-द्वारा व्याकरण कर उन का विभाग करना खण्डविज्ञान है, इस खण्डविज्ञान का अन्ततोगत्वा उसी एक अखण्ड ब्रह्म पर पर्य्यवसान करना अखण्डविज्ञान है। अखण्डविज्ञानात्मक ज्ञानयुक्त खण्डविज्ञान ही नित्यविज्ञान है। यही भारतीय विज्ञान की महत्ता है। वह विभक्तों में अविभक्त देखता है, खण्ड में अखण्ड उपलब्ध करता है, द्वैत में अद्वैत का साक्षात्कार करता है। वह उस विशुद्ध खण्डविज्ञान को, विशुद्ध भौतिक कर्म्म को सर्वथा हेय समझता है, जोकि खण्डविज्ञान महाविज्ञान-लक्षण अखण्ड, अतएव नित्यविज्ञान (ज्ञान) को मूल में न रखता हुआ क्षणिक, अतएव अनित्य, अतएव अशान्ति का कारण बन जाता है, जैसाकि २० वीं सदी के ज्ञानविज्ञानवञ्चित खण्डखण्डात्मक क्षणिक विज्ञान, एवं तत्-सम्बन्धी अशाश्वत भौतिक अविष्कारों से होने वाली अशान्ति से स्पष्ट है। साथ ही भारतीय प्रजा उस विशुद्ध ज्ञान (कर्म्म, किंवा विज्ञानशून्य ज्ञान)को भी सर्वथा हेय समझती है, जोकि केवल कल्पना की वस्तु बनता हुआ शून्यं-शून्यं बनता हुआ तदनुगामी भारतीय विद्वानों को शून्यं शून्यं ही बनाए हुए है। ज्ञान-सहकृत विज्ञान (कर्म्मयोग) हीं भारतीय के लिए उपादेय है, विज्ञानसहकृत ज्ञानयोग ही हमारा उपास्य है। वह कर्म्मशक्ति का उत्तेजक बनता हुआ आधिभौतिक योग है, यह ज्ञानशक्ति का विकासक बनता हुआ आधिदैविकयोग है। यह इहलोक--स्थानीय बनता हुआ हमें विश्वविभूति के साथ युक्त करता है, वह परलोक-स्थानीय बनता हुआ हमें विश्वातीत के साथ युक्त कर देता है। यही महार्षियों की सर्वज्ञता, एवं सर्व शक्तिमत्ता की आधारभूमियाँ हैं।

१५८–'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' मूलिका ज्ञानविज्ञान की सर्वरूपता के माध्यम से ज्ञान, और विज्ञान शब्दों के पारिभाषिक स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

उक्त ज्ञानविज्ञान–विवेचन से अब यह स्वीकार करलेने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि, ज्ञान–विज्ञान कहने भर के लिए दो हैं। प्रक्रमभेदमात्र से वही तत्त्व ज्ञान--विज्ञान, इन दो स्वरूपों में परिणत होरहा है। भाति दो हैं, परन्तु सत्ता एक है। ब्रह्म ही संचरक्रम में विश्व बनकर इसमें प्रविष्ट है। प्रतिसंचर क्रम में सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध ब्रह्म है। विश्व भी ब्रह्म है, विश्वातीत भी ब्रह्म है। विश्वब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादक ज्ञान **"विज्ञान"** है, एवं विश्वोपहित ब्रह्मप्रतिपादक ज्ञान **"ज्ञान"** है। अवस्था दो हैं, तत्त्व एक है। "ब्रह्म से विश्व कैसे बना ?, उत्पन्न विश्व का क्या स्वरूप ?" इस प्रश्न की समाधि विज्ञानकाण्ड है। "नानाभावोपेत विश्व ब्रह्म कैसे बन गया ?, उस ब्रह्म का क्या स्वरूप है" ? इस प्रश्न की समाधि ज्ञान–काण्ड है। इन दोनों का सम्यक् ज्ञान ही सर्वज्ञता है, कारण से कार्य्य पर्य्यन्त, एवं कार्य्य से कारण पर्य्यन्त आजानाही सर्वज्ञता है। दोनों के सम्यक् परिज्ञान के अनन्तर ज्ञातव्य कुछ भी तो नहीं बचता। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

१५९-'पञ्चिकात्रयविज्ञान', एवं--'पञ्चदशीविज्ञान' का संस्मरण, तत्त्वपञ्चिका के पाँच तत्त्वों का नाम--संस्मरण, पञ्चतत्त्विका के द्वारा ईश्वरस्वरूप का निर्म्माण, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का स्वरूप--समन्वय, पञ्च तत्त्वों से अनुप्राणित पञ्चविध आत्मभावों का रहस्यात्मक समन्वय, तथा तन्निबन्धना ईश्वर-जीव-अनुप्राणिता-कार -कार्य्य-रूपता का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

विश्वविज्ञान कितने भागों में विभक्त है ?, उसका क्या स्वरूप है ? इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है—**"पञ्चिकात्रयविज्ञान"**, किंवा **"पञ्चदशीविज्ञान"**। विश्वसम्बन्धी विज्ञान **तत्त्वपञ्चिका, ईश्वर–पञ्चिका, जीवपञ्चिका**, भेद से तीन भागों में विभक्त है। **निर्विशेष** नाम से प्रसिद्ध एक ही परब्रह्म से सर्वजगदुपादानभूत क्रमशः **परात्पर, पुरुष, शिविविष्ट, यज्ञ, विराट्**, ये पाँच तत्त्व प्रकट होते हैं। यही पहली तत्त्वपञ्चिका है। इसी पञ्चिका से ईश्वर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, इसी पञ्चिका से (ईश्वर के द्वारा) जीव का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। सर्वबलविशिष्ट रस ही परात्पर है, यही पहिला तत्त्व है, यह उस निर्वि–शेष की द्वितीय अवस्था है। बलोपहित शुद्धरस–निर्विशेष है, यही **"सर्वं खल्विदं"** वाला ब्रह्म है। एवं बलयुक्त वही ब्रह्म "परात्पर" नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसी व्यापक परात्पर धरातल पर महामाया के द्वारा षोडशीपुरुष का प्रादुर्भाव होता है। यही दूसरा पुरुष तत्त्व है। षोडशीपुरुष के अव्ययालम्बन पर अक्षर के द्वारा आत्मक्षर से विकारक्षर उत्पन्न होता है। यही तीसरा **"शिपिविष्ट"** तत्त्व है। षोडशीपुरुष योनि-स्थानीय बनता हुआ अग्नि है। इसीके आत्मक्षर से उत्पन्न होने वाले विकारक्षररूप शिविविष्ट की इसीमें आहुति

होती है। पुरुष अग्नि है, शिविविष्ट सोम है, आहुतिद्रव्य है। इस दोनों के समन्वय से उत्पन्न एक अपूर्व रूप ही चौथा "**यज्ञ**" तत्त्व है। जिसप्रकार लौह से उत्पन्न जँग लौह पर चढ़ा रहता है, लौह पर ही आहित (सवार) होता जाता है, एवमेव लौहस्थानीय षोडशी से उत्पन्न जँग-स्थानीय विकारक्षररूप शिविविष्ट इसी के चारों ओर आहित होजाता है। आहिति ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "आहुति" नाम से प्रसिद्ध है—आहुति-सम्बन्ध ही यज्ञ-सम्बन्ध है। अतएव शिविविष्ट, और पुरुष के इस आहितिरूप को हम अवश्य ही यज्ञ कह सकते हैं। इसी यज्ञ से आगे जाकर **विराट्** का प्रादुर्भाव होता है। यही पाँचवा तत्त्व है। यज्ञप्रक्रिया से विकारक्षरों का पञ्चीकरण होता है, विकारक्षररूप यज्ञ पञ्ची-कृत बन जाते है। यज्ञ की यह पञ्चीकृतावस्था ही विराट् है। इसप्रकार उस बलोपहित एक ही ब्रह्मतत्व (निर्विशेष) से परात्पर-पुरुष-शिविविष्ट-यज्ञ-विराट ये पाँच तत्त्व प्रादुर्भूत हैं। क्योंकि कारणसत्ता कार्य्य-सत्ता से पहिले अपेक्षित है। इधर ईश्वर और जीव, दोनों का कारण यही तत्त्वपञ्चिका है, अतएव हम इसकी सत्ता कार्य्यरूप ईश्वर एवं जीव, दोनों से पहिले मान रहे हैं।

१६०-तत्त्वपञ्चिकारूप ईश्वर, एवं तच्छरीर का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास—

जबतक ये पाँचों अपरिच्छिन्न रहते हैं, तबतक तो इन्हें "**तत्त्व**" ही कहा जाता है। एवं तभी तक ये परात्पर-पुरुषादि नामों के अधिकारी भी हैं। परन्तु परिच्छेद से युक्त होकर ये "**ईश्वर**" रूप में परिणत होजाते हैं। इस ईश्वर को प्रजापति कहा जाता है। आत्मा-शरीर की समष्टि ही प्रजापति है। परात्पर-पुरुष-शिविविष्ट-यज्ञ-विराट् पाँचों की समष्टि आत्मा है, एवं स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा पृथिवी, इन पाँचों की समष्टि इस आत्मा का शरीर है। तत्त्वपञ्चिकारूप आत्मा, एवं ईश्वरपञ्चिकारूप शरीर की समष्टि ही ईश्वरप्रजापति है। विज्ञानभाषानुसार ईश्वरपञ्चिका के स्वयम्भू आदि पाँचों रूप हीं क्रमशः **प्रजापति** (स्वयम्भू), **परमेष्ठी**, **इन्द्र** (सूर्य्य), **अग्नि** (पृथिवी), **सोम** (चन्द्रमा) इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

१६१-अंशी-ईश्वरप्रजापति से अभिन्न अंशभूत जीवप्रजापति के पारिभाषिक-तत्त्वानुगत स्वरुपों का समन्वय, एवं तन्निबन्धन विभिन्न आत्मभावों का लोकभेद-भिन्न--स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जीवप्रजापति ईश्वरप्रजापति का अंश है। अतः इसमें उन सब तत्त्वों की सत्ता सिद्ध होजाती है, जो कि ईश्वरप्रपञ्च में प्रतितिष्ठित हैं। हाँ, योगमाया के सम्बन्ध से नाम-रूप-कर्म्मों में अवश्य ही अन्तर है। वह महामायावच्छिन्न है, यह योगमायावच्छिन्न है। जीवशरीर में आगत स्वयम्भू **सत्यात्मा** है। यह सत्या-त्मा १—**अन्तर्य्यामी**, २—**सूत्रात्मा**, ३—**वेदात्मा**, ४—**चिदात्मा**, भेद से चतुष्पर्वा है। चारों की समष्टि एक सत्यात्मा है। परमेष्ठी का अंश **यज्ञात्मा** है, यह एककल है। सौर भाग **विज्ञानात्मा-दैवात्मा** भेद से द्विकल है। इनमें विज्ञानात्मा तो आपामर विद्वज्जन सब में तारतम्य से साधारण है। परन्तु दूसरा दैवा-त्मा तो यज्ञ से ही सम्बन्ध रखता है। यज्ञप्रक्रिया से यज्ञकर्त्ता के आत्मा में सौर-देवभाग से नवीन अतिशय उत्पन्न होता है। वही यज्ञातिशय दैवात्मा है। इसी के आकर्षण से यज्ञकर्त्ता का मानुषात्मा स्थूलशरीर के परि-त्याग के अनन्तर नाचिकेतस्वर्ग का अधिकारी बनता है। चान्द्रभाग **महानात्मा** है। यह महानात्मा

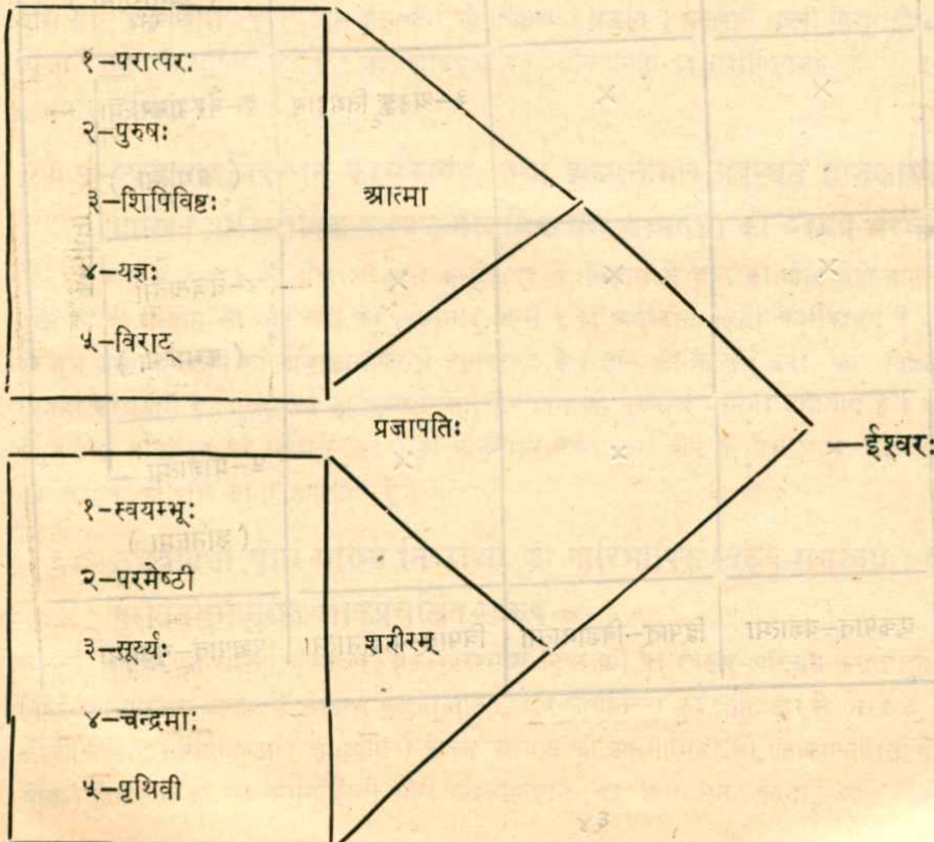
शुक्र में प्रतिष्ठित होता हुआ १—आकृतिमहान्, २—प्रकृतिमहान्, ३—अहकृतिमहान् भेद से त्रिपर्वा है। पार्थिव भाग भूतात्मा है। यह १—बाह्यात्मा, (शरीर) २—हंसात्मा, ३—वैश्वानरात्मा, ४—तैजसात्मा ५—प्राज्ञ भेद से पञ्चपर्वा है। इसप्रकार ईश्वर के पाँचों पर्व जीवसंस्था में चतुष्पर्वा [1]सत्यात्मा (स्वयम्भू), अपर्वा [2]यज्ञात्मा (परमेष्ठी), द्विपर्वा [3]विज्ञानात्मा, (सूर्य्य), त्रिपर्वा [4]महानात्मा (चन्द्रमा), पञ्चपर्वा [5]भूतात्मा (पृथिवी) इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। यही तीसरी जीवपञ्चिका, किंवा जीवपञ्चदशी है। इसप्रकार विज्ञानकाण्ड में तीन पञ्चिका होजातीं हैं, जैसाकि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

१६२–(१)–तत्वपञ्चिका-स्वरूप-प्रदर्शनम्—

१—परात्परः—सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः परमेश्वरः।
२—पुरुषः——अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः षोडशी।
३—शिपिविष्टः-विकारक्षरमूर्त्तिः——विश्वसृट्।
४—यज्ञः——पुरुष-शिपिविष्ट-कृतमूर्त्तिः-पञ्चजनः।
५—विराट्—पञ्चीकृतमूर्त्तिः———पुरञ्जनः।

——*——

१६३–(२)–ईश्वरपञ्चिका–स्वरूप–प्रदर्शनम्—



१६४-(३)-जीवपञ्चिका-स्वरूप-प्रदर्शनम्—

जीवपञ्चिका विभागः—पञ्चदशी				
१-सत्यात्मा स्वायम्भुवः	२-यज्ञात्मा पारमेष्ठ्यः	३-विज्ञानात्मा सौरः	४-महानात्मा चान्द्रः	५-भूतात्मा पार्थिवः
१-अन्तर्य्यामी	१-यज्ञात्मा	१-विज्ञानात्मा	१-आकृतिमहान्	१-बाह्यात्मा (शरीरम्)
२-सूत्रात्मा	×	२-दैवात्मा	२-प्रकृतिमहान्	२-हंसात्मा (अन्तरात्मा)
३-वेदात्मा	×	×	३-अहङ्कृतिमहान्	३-वैश्वानरात्मा (अर्थात्मा)
४-चित्यात्मा	×	×	×	४-तैजसात्मा (कर्म्मात्मा)
×	×	×	×	५-प्राज्ञात्मा (ज्ञानात्मा)
च पात् सत्यात्मा	एकपात्-यज्ञात्मा	द्विपात्-विज्ञानात्मा	त्रिपात्-महानात्मा	पञ्चपात्-भूतात्मा

कर्म्मात्मा

१६५–तत्त्वभाव, ईश्वरभाव, जीवभाव–त्रयी, और तदनुगत पारिभाषिक-तत्त्वों का समन्वय, एवं तत्प्रतिपादक-सर्वशास्त्ररूप-वेदशास्त्र—

तत्त्व–ईश्वर–जीव इन तीनों का विज्ञान हीं सर्वजगद्विज्ञान है। इन तीनों से अतिरिक्त विज्ञान–काण्ड में कुछ भी निरूपणीय नहीं बच रहता। इसी विज्ञानत्रयी का प्रतिपादक शास्त्र **वेदत्रयी** नाम से प्रसिद्ध है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ने उक्त तीनों पञ्चिकाओं का निरूपण करते हुए अपनी सर्वविज्ञानशास्त्रता ही सिद्ध की है–**सर्वं वेदान् प्रसिद्धयति**"।

१६६–परलोकानुबन्धी 'ज्ञान' तत्त्व से अनुप्राणित पारिभाषिक-'ज्ञानयोग', तत्स्वरूप-लक्षण--समन्वय, एवं तन्निबन्धना आधिदैविक--सम्पत्ति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

उक्त **ज्ञान-विज्ञान** स्वरूपों के परिचय से हमें प्रकृत में बतलाना यही है कि, **"जितने भी ज्ञान साधन-रूप से, एवं फलरूप से उभयथा पारलौकिक (आधिदैविक--ईश्वर--सम्बन्धी) अर्थों की ही अपेक्षा रखते हैं, पारलौकिक साधनों से ही अपना स्वरूप निर्म्माण कर पारलौकिक अर्थों (फलों) के ही जनक बनते हैं, उस सम्पूर्ण ज्ञानों का विज्ञानसहित जो संग्रह है, वही ज्ञानकाण्ड है, एवं ऐसे विज्ञान सहित ज्ञान का आत्मा के साथ योग करा के ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त करा देने वाला योग ही "ज्ञानयोग" है।"** इस ज्ञानयोग की प्रक्रिया (पद्धति) बतलाने वाली विद्या ही गीता में **"सिद्ध-विद्या"** नाम से प्रसिद्ध हुई है। यही लोकप्रचलित सांख्यनिष्ठा का संशोधितरूप है। इस संशोधन की मूलभित्ति **"विज्ञान"** ही है।

१६७–व्यक्तभावनिबन्धन कर्म्मकाण्ड, तथा अव्यक्तभावनिबन्धन ज्ञानकाण्ड, एवं तदनुप्राणित-पारिभाषिक-अव्यक्तभावनिबन्धन ज्ञानयोग का स्वरूप-संस्मरण—

ज्ञान से विज्ञान की ओर आजाना कर्म्मकाण्ड है, विज्ञान से ज्ञान की ओर चले जाना ज्ञान काण्ड है। दूसरे शब्दों में-ज्ञान को मूल बना कर विज्ञान (कर्म्म) का अनुष्ठान करना कर्म्मकाण्ड है, विज्ञान (कर्म्म) को मूल बना कर ज्ञान का अनुष्ठान करना ज्ञानकाण्ड है। ज्ञान को क्रत्वर्थ बना कर विज्ञान को पुरुषार्थ मानना कर्म्मयोग है, एवं कर्म्म को क्रत्वर्थ बना कर ज्ञान को पुरुषार्थ मानना ज्ञानयोग है। अव्यक्त (अक्षर) को मूल में प्रतिष्ठित कर व्यक्त (क्षर) का अनुगमन करना कर्म्मयोग है, एवं व्यक्त को मूल में प्रतिष्ठित कर अव्यक्त की ओर जाना ज्ञानयोग है।

१६८–उभयविधा योग-सांख्य-निष्ठाओं का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, एवं उन का पुरातनयुगानुगत-लोकप्रचलित-स्वरूप—

पाठकों को स्मरण होगा कि, प्रकरणारम्भ में निष्ठाओं का स्वरूप–परिचय कराते हुए हमने सांख्य–निष्ठा का अव्यक्त अक्षर से सम्बन्ध बतलाया था, एवं योगनिष्ठा का व्यक्त क्षर से सम्बन्ध बतलाया था। लोकप्रचलिता सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) केवल अव्यक्त की अनुगामिनी थी, लोकप्रचलिता योगनिष्ठा (कर्म्म–योग) केवल व्यक्त की अनुगामिनी थी। अव्यक्तज्ञान का अनुगमन करना, व्यक्त विज्ञान (कर्म्म) का

एकान्ततः परित्याग कर देना, यह सांख्यनिष्टा थी। व्यक्त विज्ञान (कर्म्म) का अनुगमन करना, अव्यक्त ज्ञान [निष्कामभावात्मक ज्ञान] की उपेक्षा कर देना, यह योगनिष्ठा थी। एक विशुद्ध अव्यक्त ज्ञान के पक्षपाती थे, तो दूसरे विशुद्ध व्यक्त विज्ञान के पक्षपाती थे।

१६९-तत्त्वद्रष्टा भगवान् के द्वारा लोकप्रचलिता उभयविद्या योग--सांख्य-निष्ठाओं का आसक्तिनिवृत्ति, तथा कर्म्मप्रवृत्ति के द्वारा अत्यन्त-रहस्य-पूर्ण-संशोधन—

तत्वदर्शी भगवान् ने लोकप्रचलित उक्त दोनों निष्ठाओं को सर्वथा हेय मानते हुए क्रमशः दोनों में अव्यक्तज्ञान-व्यक्त विज्ञान का समावेश कर उन्हें बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान की। भगवान् ने बतलाया कि, जिस त्रिगुणभावमय विज्ञानात्मक विश्व को तुमने अव्यक्त से सर्वथा पृथक् समझ रक्खा है, वह उस अव्यक्त ज्ञान का ही रूपान्तर है। बिना इस व्यक्त विज्ञान को अपनाए अव्यक्त ज्ञान प्राप्त करलेना असम्भव है। इसी-प्रकार विशुद्ध व्यक्तवादियों को भगवान् ने सावधान किया कि, जिस व्यक्त कर्म्म को ही तुमने सर्वेसर्वा मान रक्खा है, वह कर्म्ममार्ग असङ्ग अव्यक्त ज्ञान को मूल बनाए बिना फलकामासक्ति का जनक बनता हुआ बन्धन का ही कारण है। अतः उस के मूल में निष्कामभाव लक्षण अव्यक्त ज्ञान को प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। बिना अव्यक्त ज्ञान के समावेश से व्यक्तविज्ञान [कर्म्मयोग] ईश्वरता से सर्वथा वञ्चित है, एवं बिना व्यक्त विज्ञान के समावेश के अव्यक्तज्ञान [ज्ञानयोग] ईश्वरता से सर्वथा वञ्चित है।

१७०-'योग' शब्द के पारिभाषिक तत्त्वार्थ का समन्वय, योग की द्विनिष्ठता का रहस्यात्मक विश्लेषण, एवं 'योग' भावानुगता समन्वयात्मिका द्विविधा निष्ठाओं का पारिभाषिक-समन्वय—

कर्म्मयोगवादी अपने कर्म्म को शान्ति का कारण समझते हुए कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होरहे हैं, ज्ञानयोगीवादी अपने ज्ञान को परशान्ति का कारण मानते हुए ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होरहे हैं। ऐसे कर्म्मनिष्ठयोगियों से, एवं ज्ञाननिष्ठ सांख्यों से भगवान् प्रश्न करते हैं कि, तुमने योग की क्या परिभाषा मान रक्खी है ?। जिस योग से तुम शान्ति लाभ करना चाहते हो, उस शान्ति का क्या स्वरूप है ?। विशुद्ध कर्म्मवादी योगी, एवं विशुद्ध ज्ञानवादी सांख्य, दोनों ही भगवान् के इन प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ हैं। कारण स्पष्ट है। "योग" शब्द का अर्थ है-"मेल"-"सम्बन्ध"-"समन्वय"। सम्बन्ध सदा दो वस्तुओं की ही अपेक्षा रखता है, अतएव दर्शनने सम्बन्ध को द्विनिष्ठ माना है। ज्ञान का कर्म्म के साथ योग सम्भव है, कर्म्म का ज्ञान के साथ योग सम्भव है। ज्ञान-कर्म्म दोनों के सम्बन्ध का ही नाम योग है। केवल कर्म्म भी दूसरे के अभाव से योग से वञ्चित है, एवं केवल ज्ञान भी द्विनिष्ठ योग के सम्बन्ध से वञ्चित है। ऐसी दशा में अपने विशुद्ध कर्म्ममार्ग को कर्म्मयोग कहना, एवं अपने विशुद्ध ज्ञानमार्ग को ज्ञानयोग कहना कोई अर्थ नहीं रखता। अवश्य ही इन योगाभिमानियों को अपने 'योग' शब्द की रक्षा की लिए अपनी-अपनी निष्ठाओं में योग--स्वरूप सम्पादक ज्ञान-कर्म्म का समावेश करना ही पड़ेगा। कर्म्मठ ज्ञान को लेकर उसके साथ कर्म्म का योग कराते हुए ही अपने कर्म्मयोग को सुरक्षित रख सकेंगे। ज्ञानी कर्म्म को लेकर उसके साथ ज्ञान का योग कराते हुए ही अपने ज्ञानतोग को सुरक्षित रक्ख सकेंगे। ज्ञाननिष्ठा ज्ञानी कर्म्म को अपना कर उसके साथ ज्ञान का योग कराते हुए ही अपने ज्ञानयोग को सुरक्षित रख सकेंगे। यदि उन्होंनें ऐसा नहीं किया, तो द्विनिष्ठ

योग शब्द से वञ्चित उन के कर्म्म-ज्ञानयोग अयोग ही कहलावेंगे, एवं ऐसे अयोगात्मक योग प्रत्येक दशा में हेय ही माने जायँगे।

१७१–'समत्त्वं योग उच्यते, योगः कर्म्मसु कौशलम्' का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

दूसरा प्रश्न **"शान्ति"** से सम्बन्ध रखता है। शान्ति का सीधा सा अर्थ है–स्वस्थता। कम्पन न हो, एक स्थान पर आत्मा प्रतिष्ठित रहे, यही शान्ति है, यही समता है। केवल–कर्म्म ज्ञान इस समता लक्षणा शान्ति से भी वञ्चित हैं। क्योंकि आत्मा न केवल ज्ञानमूर्त्ति है, न कर्म्ममूर्त्ति, अपितु उभयमूर्त्ति है। आत्मा के ज्ञान-कर्म्म दोनों पर्व जबतक समतुलित नहीं होजायँगे, तबतक समतालक्षणा स्थिरता का उदय नहीं होगा, फलतः समत्त्वलक्षणा शान्ति का उदय नहीं होगा। इस दृष्टि से केवल कर्म्म भी विषम बनता हुआ समतालक्षणा शान्ति से वञ्चित रह जायगा, एवं केवल ज्ञान भी विषम ही बना रहेगा। ऐसी दशा में आपके ये योग तभी शान्ति के कारण माने जायँगे, जबकि दोनों में आप क्रमशः ज्ञान–कर्म्म का समावेश कर देंगे। दोनों के समतुलन से ही योगसम्पत्ति प्राप्ति होगी, इसी योगकौशल से समतालक्षणा शान्ति का उदय होगा—**"समत्वं योग उच्यते, योगः कर्म्मसु कौशलम्, तस्माद्योगी भवार्जुन !"**।

१७२–पारिभाषिक-समन्वयानुबन्धी ज्ञानयोग, तथा कर्म्मयोग का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं विभिन्न परिभाषाएँ—

ज्ञान को कर्म्म से मिलाओ, कर्म्मयोग सफल है। कर्म्म को ज्ञान से मिलाओ, ज्ञानयोग सिद्ध है। ज्ञानकर्म्म का समन्वितरूप ही कर्म्मयोग है, कर्म्मज्ञान का समन्वितरूप ही ज्ञानयोग है। दोनों में दोनों हैं। अन्तर केवल यही है कि, कर्म्मयोग में ज्ञान गौण है, क्रत्वर्थ है, कर्म्म प्रधान है, पुरुषार्थ है। ज्ञानयोग में कर्म्म गौण है, क्रत्वर्थ है, ज्ञान प्रधान है, पुरुषार्थ है। इसीलिए हमनें इन दोनों निष्ठाओं को (साथ ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणा भक्तिनिष्ठा को भी) सशोधितरूप मानते हुए इन तीनों बुद्धियोगों का परमत से ही सम्बन्ध माना है। भगवान् का अपना मत तो इन तीनों से ही पृथक् है। इन तीनों में भी भगवान् की दृष्टि में श्रेणि–विभाग है। सब से श्रेष्ठ संशोधित भक्तियोग, उस से नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित संशोधित कर्म्मयोग, सर्वान्त में प्रतिष्ठित संशोधित ज्ञानयोग, इसप्रकार तीनों में उत्तम–मध्यम–प्रथम विभाग करते हुए भगवान् ने तीनों में भी श्रेणि-विभाग कर दिया है। कारण इसका यही है कि, भक्तियोग में आधि–दैविक लक्षण ज्ञान, आधिभौतिक लक्षण कर्म्म, दोनों का संग्रह है। **"जिस के साधन आधिभौतिक हैं, जिस का साध्य आधिदैविक है, वही भक्तियोग है"** जैसा कि आगे के खण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इसीलिए भक्तियोग में कर्म्म–ज्ञानयोगों की अपेक्षा ज्ञान-कर्म्म की अधिक समता है। अधिक साम्य होने से ही **"समत्त्वं योग उच्चते"** यह योगलक्षण इस निष्ठा में विशेषरूप से चरितार्थ होरहा है। इसी विशेषता से भक्तियोगने गीता में तीनों की तुलना में उत्तम आसन ग्रहण किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१७३-(१)-उत्तम भक्तियोग-का स्वरूप-संस्मरण—

क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ॥
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥१॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२॥

——*——

१७४-संशोधित कर्म्मयोग का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, कर्म्मयोग का स्वरूप-लक्षण-दिग्दर्शन, एव तन्निबन्धना आधिभौतिकता का समन्वय, और तदनुगता श्रेणि-व्यवस्था—

दूसरा है संशोधित कर्म्मयोग । इस में यद्यपि आधिभौतिक कर्म्म के साथ साथ आधिदैविक ज्ञान का भी समावेश है । इसीलिए आंशिकरूप से इस में समत्वलक्षण बुद्धियोग का भी समावेश होरहा है । तथापि क्योंकि यह ज्ञान कर्त्तर्थ बनता हुआ गौण बन रहा है, आधिभौतिक कर्म्म पुरुषार्थ बनता हुआ प्रधान बन रहा है । दूसरे शब्दों में आधिभौतिक कर्म्म का अनुचर आधिदैविक ज्ञान आधिभौतिक भाव से अभिभूत होता हुआ आधिभौतिक ही बन रहा है । अतएव **"जिस का साधन भी आधिभौतिक हो, एवं जिस का साध्य भी आधिभौतिक हो, वही कर्म्मयोग है"** इस लक्षण का अनुगामी बनता हुआ यह योग भक्तियोग की अपेक्षा अवरश्रेणि में ही रह जाता है । परन्तु साथ ही यह ज्ञानयोग से कहीं श्रेष्ठ भी है । क्योंकि कर्म्मयोग में लोकसंग्रह की पूरी पूरी रक्षा होजाती है । एवं लोकसंग्रह (विश्वोपकार) भगवान् की दृष्टि में उत्तम वस्तु है । अतएव कर्म्मयोग, एवं ज्ञानयोग, दोनों की तुलना में भगवान् ने कर्म्मयोग का ही आसन ऊँचा रक्खा है । दूसरी बात यह भी है कि, अव्यक्तमूलक ज्ञानयोग की अपेक्षा व्यक्तमूलक कर्म्मयोग कुछ सरल भी पड़ता है । विश्व में व्यक्त कर्म्म ही प्रधान है, अव्यक्त ज्ञानगर्भ में विलीन है । अतएव उस के अनुष्ठान में विशेष क्लेश होता है । इहीं सब कारणों से हम कर्म्मयोग को भक्तियोग की अपेक्षा अवर होने से, ज्ञान योग की अपेक्षा पर होने से मध्यम-श्रेणि की वस्तु मानने के लिए तय्यार हैं, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१७५-(२)-मध्यम कर्म्मयोग-का स्वरूप संस्मरण —

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥१॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥२॥
संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥३॥

नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्म्मणः ॥४॥

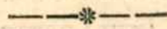


१७६-संशोधित ज्ञानयोग का पारिभाषिक--स्वरूप--समन्वय, ज्ञानयोग का स्वरूप-लक्षण-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धना आधिदैविकता का समन्वय, और तदनुगता श्रेणि-व्यवस्था—

तीसरा है संशोधित ज्ञानयोग । कर्म्मयोग की भाँति यद्यपि इसमें भी आधिदैविक ज्ञान के साथ साथ आधिभौतिक कर्म्म का समावेश है । इसीलिए इस में आंशिकरूप से ज्ञान-कर्म्म-समत्त्व-लक्षण बुद्धियोग का भी समन्वय होरहा है । तथापि क्योंकि ज्ञानयोग-सम्बन्धी कर्म्म क्रत्वर्थ बनता हुआ गौण बन रहा है, आधि-दैविक ज्ञान प्रधान बन रहा है । दूसरे शब्दों में आधिदैविक ज्ञान का अनुचर तपश्चर्य्यालक्षण (अतएव लोक-संग्रहशून्य) आधिभौतिक कर्म्म आधिदैविक भाव से ही अभिभूत होरहा है । अतएव-"**जिस का साधन भी आधिदैविक हो, एवं साध्य भी जिस का आधिदैविक ही हो, वही ज्ञानयोग है**" इस लक्षण का अनु-गामी बनता हुआ ज्ञानयोग कर्म्मयोग की अपेक्षा नीची श्रेणि में ही रह जाता है । साथ ही अव्यक्त ज्ञान प्रधा-न बनता हुआ, लोकसंग्रह से वञ्चित रहता हुआ भी यह क्लेशमार्ग प्रथम श्रेणि का ही अधिकारी बनता है । पहिले मार्ग कठिन, फिर लोकसंग्रह का अभाव, इहीं सब कारणों से लोकसंग्राही भगवान्ने गीताशास्त्र में इस का संग्रह करते हुए भी इस योग के सम्बन्ध में अपनी अरुचि ही प्रकट की है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१७७-(३)-प्रथम ज्ञानयोग-का स्वरूप संस्मरण—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥१॥
क्लेशोऽधिकरतस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते ॥२॥



१७८-गीताशास्त्र की चतुष्काण्डता के सम्बन्ध में एक महती--विप्रतिपत्ति का उत्थान, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन—

इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है । आजतक जितने भी गीताव्याख्याता हुए हैं, उन सबने गीता को त्रिकाण्ड ही माना है । किसी ने इसे ज्ञानयोग-प्रधान माना हो, किसी ने भक्तियोग प्रधान माना हो, अथवा किसीने कर्म्मयोग-प्रधान माना हो, यह दूसरी बात है । परन्तु मानना तीन ही काण्डों

में समाप्त है। तीन से अतिरिक्त चौथे बुद्धियोग का समावेश मानते हुए हमनें जो प्रचलित क्रम की उपेक्षा कर गीता को चतुष्काण्डा माना है, इस का क्या मूल ?, किसी आधार पर एक अपूर्व बुद्धियोग और माना लिया गया ?। एक विप्रतिपत्ति।

१७६-जीव की दुःखनिवृत्ति के लिए प्रवृत्त-गीताशास्त्र के प्रमुख उद्देश्य का संस्मरण--

गीताशास्त्र दुःखनिवृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। दुःख का मूल कारण है-आत्मसम्पत्ति के-परिज्ञान का अभाव, दूसरे शब्दों में ईश्वरभाव की प्राप्ति का अभाव। जीव ईश्वर का अंश है। फिर भी उस ईश्वर से पृथक् बनता हुआ, अविद्यादि दोषों में सतत प्रवृत्त होता हुआ दुःख पाया करता है। जिस उपाय से जीव विप्लुता ईश्वरसम्पति को प्राप्त करता हुआ दुःख से निवृत्त होजाता है, उस उपाय का स्पष्टीकरण करने के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

१८०-आत्मस्वरूप-लक्षण के पारिभाषिक-तात्त्विक स्वरूप से अनुप्राणिता वस्तुस्थिति के आधार पर गीतोद्देश्य की नीरक्षीरविवेकता का समन्वय-प्रयास—

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" के अनुसार ईश्वरात्मा, किंवा परमात्मा मनः-प्राण-वाङ्मय है। मनोभाग से ज्ञानशक्तिघन बनता हुआ वह **सर्वज्ञ** बन रहा है, प्राणभाग से क्रियाशक्तिघन बनता हुआ वह **सर्वशक्तिमान्** बन रहा है, एवं वाग्भाग से अर्थशक्तिघन बनता हुआ वह **'सर्ववित्'** (सब कुछ प्राप्त किए हुए) बन रहा है। मनोमयी सर्वज्ञता, प्राणमयी सर्वशक्तिमत्ता, वाङ्मय सर्वविद् भाव ही ईश्वर की ईश्वरता है। यही ईश्वरसम्पत् है। जीवात्मा इसी सम्पत्ति-शाली ईश्वर का अंश है। अतएव यह भी मनः-प्राण-वाङ्मय ही है। जब वे ही तीनों कलाएँ इस में विद्यमान् है, तो इसे भी ईश्वरवत् सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-सर्वपित् ही होना चाहिए था। होना क्या चाहिए है, और अवश्य है। परन्तु······?।

१८१-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावानुगत त्रित्व के माध्यम से सर्वलक्ष्यसिद्धि का समन्वय, एवं तन्निबन्धना चतुष्काण्डात्मिका महती विप्रतिपत्ति—

परन्तु अविद्यादि दोषों के आवरण से इस की स्वाभाविकी ज्ञान-क्रिया-बल-शक्तियाँ मुकुलित बन रहीं हैं। यदि किसी उपाय से इस के आवरण हट जाते हैं, तो इस की तीनों अल्पशक्तियाँ उन घनशक्तियों के साथ युक्त होतीं हुई ईश्वरभाव को प्राप्त होजातीं हैं, फलतः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाती है। उस में तीन शक्तियाँ। इन तीनों में भी तीन हीं शक्तियाँ। इन तीनों का उन तीनों के साथ योग करा देने से सर्वसिद्धि। फिर कुछ भी ज्ञातव्य (ज्ञान)-कर्त्तव्य (कर्म्म) प्राप्तव्य (अर्थ) नहीं रहता।

१८२-सुप्रसिद्धा काण्डत्रयी के माध्यम से गीतोद्देश्य का सर्वात्मक-समन्वय, एवं विप्रतिपत्ति की महती जागरूकता—

ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों मे मनः-प्राण-वाक-संस्था क्रम से ज्ञान उत्तम है, कर्म्म, किंवा क्रिया मध्यम है, अर्थ प्रथम है। अर्थ विश्व की वस्तु है, ज्ञान विश्व के बाहिर की वस्तु है, कर्म्म दोनों के मध्य की वस्तु है। अर्थमय विश्व कर्मकाण्ड है, इसमें आधिभौतिक प्रपञ्च की ही प्रधानता है। कर्म्म भक्तिकाण्ड है, इसी

में इस ओर के आधिभौतिक अर्थ का भी समावेश है, उस ओर के आधिदैविक ज्ञान का भी समावेश है। इस में क्योंकि दोनों के भाग (अंश) समाविष्ट हैं, अतएव इसे भक्तिकाण्ड कहना उचित होता है। ज्ञान ज्ञानकाण्ड है। इसमें आधिदैविक तत्त्व का ही साम्राज्य है।

१८३-अर्थ-कर्म्म-ज्ञान-निबन्धना कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-काण्डत्रयी का पारिभाषिक-समन्वय, और विप्रतिपत्ति की बिभीषिका—

उक्त क्रम-विभाग से यह भी सिद्ध होजाता है कि, यद्यपि पुरुष का परमपुरुषार्थ ज्ञान ही है, **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** के अनुसार ज्ञान ही मौलिक तत्त्व है, परन्तु ज्ञान के साथ क्रमशः कर्म्म-अर्थ इन दो भावों का सम्बन्ध और है। अतः पहिले अर्थसोपान को पार करना पड़ेगा, पीछे क्रमप्राप्त कर्म्मसोपान को पार करना पड़ेगा। सर्वान्त में ज्ञानसोपान का अधिकार प्राप्त होगा। फलतः पहिले अर्थप्रधान कर्म्म-काण्ड का अनुगमन करना पड़ेगा, अनन्तर कर्म्मप्रधान भक्तिकाण्ड का अनुसार करना पड़ेगा। तब कहीं ज्ञानप्रधान ज्ञानकाण्ड का अधिकार मिलेगा। इसी काण्डत्रयी के आधार पर अधिकारीवर्ग भी तीन हीं भागों में विभक्त मानें जायँगे।

१८४-वेद के सुप्रसिद्ध कर्त्तव्यात्मक तीन विधिभाग, और तन्निबन्धना काण्डत्रयी, एवं विप्रतिपत्ति का पुनः संस्मरण—

जो मनुष्य अभी भौतिक प्रपञ्च के चक्र से नहीं निकले हैं, वे प्रथमाधिकारी कहलाएँगे। एवं पहिले उन्हें कर्म्मकाण्ड का अनुगमन करना पड़ेगा। जो व्यक्ति अभी भौतिक प्रपञ्च से तो नहीं निकले हैं, परन्तु साथ ही जिनका आत्मा सगुण ब्रह्म की ओर झुक गया है, ये सगुणोपासक मध्यमाधिकारी कहलाएँगे। एवं इन्हें भक्तिज्ञान का अनुगमन करना पड़ेगा। परन्तु जो पुरुषपुङ्गव भौतिक प्रपञ्च से सर्वथा निकल कर, भूतवियुक्त, अतएव निर्गुण, अद्वय ब्रह्म की और झुके हुए हैं, वे उत्तमाधिकारी कहलाएँगे। एवं तीसरा उत्तम ज्ञानकाण्ड ही इन की प्रतिष्ठाभूमि होगा।

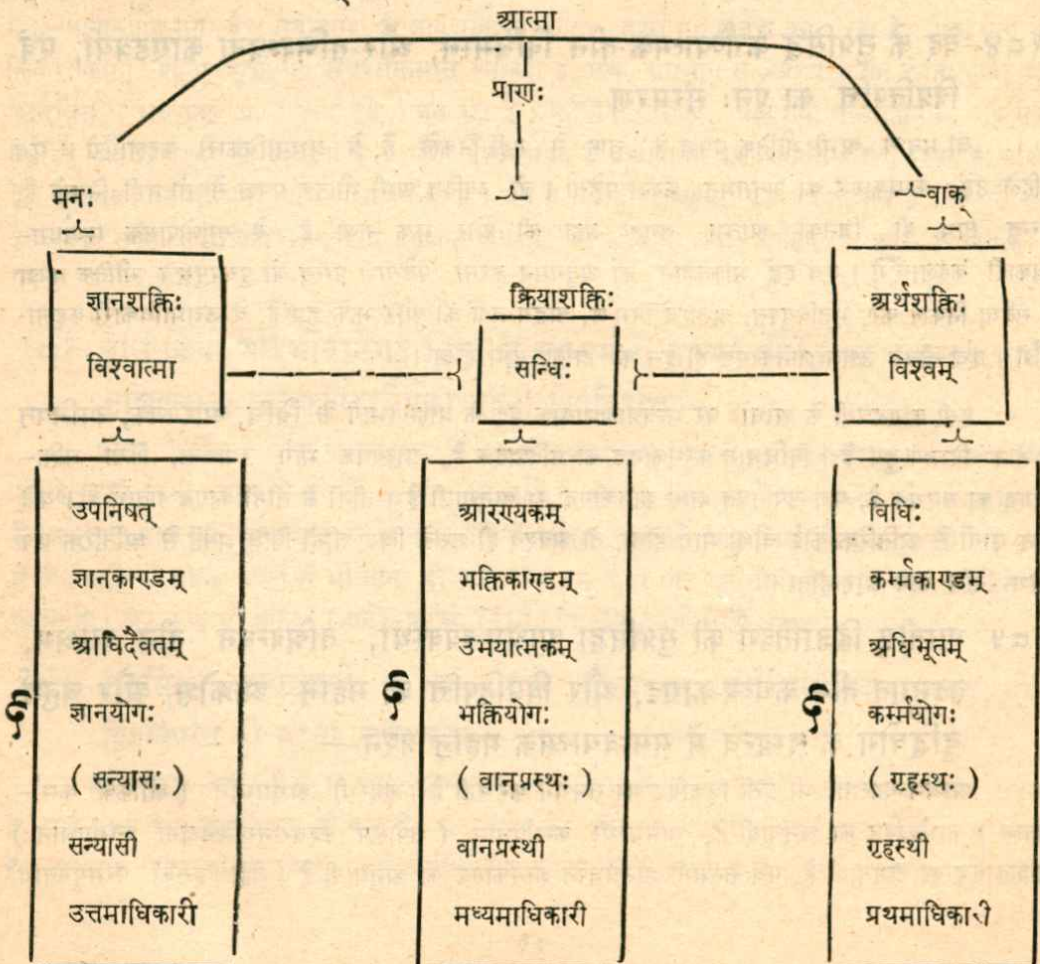
इसी काण्डत्रयी के आधार पर मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के ब्राह्मणभाग के **विधि, आरण्यक, उपनिषत्** ये तीन विभाग हुए हैं। विधिभाग कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादक है, आरण्यक भाग उपासना, किंवा भक्ति-काण्ड का समर्थक है, एवं उपनिषत् भाग ज्ञानकाण्ड का अनुगामी है। तीनों से तीनों काण्ड गतार्थ हैं। यदि तीन मार्गों से अतिरिक्त कोई चौथा मार्ग होता, तो अवश्य ही उसके लिए तीनों विधि भागों से अतिरिक्त एक चौथा विधि भाग और होता।

१८५-भारतीय द्विजातिवर्ग की सुप्रसिद्धा आश्रम-व्यवस्था, तन्निबन्धन तीन आश्रम, तदनुगत तीन कर्त्तव्य-काण्ड, और विप्रतिपत्ति का महान् आक्रोश, और चतुर्थ बुद्धियोग के सम्बन्ध में समन्वयात्मक महान् प्रश्न—

आश्रमव्यवस्था भी इसी त्रिकाण्ड का समर्थन कर रही है। गृहस्थी अर्थप्रधान (लौकिक कर्म्म-प्रधान) कर्म्मकाण्ड का अनुयायी है, वानप्रस्थी कर्म्मप्रधान (तपोरूप ईश्वरानुगतिलक्षण कर्म्मप्रधान) भक्तिकाण्ड का अनुयायी है, एवं सन्यासी ज्ञानप्रधान ज्ञानकाण्ड का अनुयायी है। यही इसका परमपुरुषार्थ

लक्षण चतुर्थ आश्रम है। क्योंकि लोक में तीन प्रकार के अधिकारी हैं, तीन हीं आत्मपर्व हैं, तीन हीं विधिभाग हैं, तीन ही काण्ड हैं, अतः भगवान् ने गीता में उन्हीं का विश्लेषण किया। यद्यपि गीता का मूललक्ष्य ज्ञानयोग ही है, (जैसाकि आरम्भ में हीं गीतापक्रमोसंहार का दिग्दर्शन कराते हुए स्पष्ट किया जाचुका है), तथापि क्योंकि अर्जुन गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित था, एवं गृहस्थी पूर्वकथनानुसार प्रथमाधिकारी बनता हुआ आरम्भ में [गृहस्थाश्रम में] कर्म्म का ही अधिकारी था, अतएव **"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** यह आदेश देते हुए भगवान् ने उसे कर्म करने के लिए ही प्रोत्साहित किया था। इसीप्रकार मध्यमाधिकारियों के लिए भक्तियोग का विधान किया। एवं उत्तमाधिकारियों के लिए ज्ञानयोग को सुरक्षित रक्खा। इस आश्रमव्यवस्था के आधार पर भी गीता त्रिकाण्ड ही मानी जासकती है, फिर यह चौथा बुद्धियोगकाण्ड कहाँ से आगया ?। कहना पड़ेगा कि यह काण्ड केवल काल्पनिक वस्तु है। इसीलिए तो इस समय उपलब्ध होने वाले किसी भी गीताभाष्य, किंवा गीताव्याख्या में तीन काण्डों के अतिरिक्त न तो कोई चौथा 'बुद्धियोग' नाम का काण्ड ही मिलता, एवं न तदनुकूल ६–२–४–६ इसप्रकार का अध्याय--विभाग ही उपलब्ध होता [देखिए भा० भू० १ खण्ड विषयविभाग प्रदर्शन]।

१८६–आक्षेप-समर्थक-षड्भावापन्न-तत्त्वस्वरूप-समन्वयात्मक-परिलेख—



१८७-लोकप्रचलिता विप्रतिपत्ति से अनुप्राणिता तिमिरान्ध से ही लोकव्याख्याताओं की गीताशास्त्र के बुद्धियोग के प्रति निरपेक्षता का दिग्दर्शन—

सचमुच इसी विप्रतिपत्ति ने अबतक गीताशास्त्र के बुद्धियोग नामक योग को विलुप्त रक्खा है। इसी भ्रान्ति ने गीता को अपने वास्तविक तात्पर्य्य से वञ्चित रक्खा है। इसी तिमिरान्ध ने भाष्यकारों, तथा व्याख्याकारों की चाक्षुष-ज्योति को उलूकासन प्रदान कर रक्खा है। इसमें व्याख्याताओं का कोई दोष नहीं है। यह सम्पूर्ण दोष है एकमात्र कालपुरुष का।

१८८-पञ्चसहस्रवर्ष-पूर्वानुगत महाभारतयुग से अनुगता काण्डत्रयी-निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तद् युग के कर्म्मठ-उपासक-तथा ज्ञाननिष्ठ, और तद्दृष्टिवञ्चित गीता का बुद्धियोग—

आज के युग को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। उसी युग का विचार कीजिए, जो कि युग गीतोपदेशकाल माना जाता है। महाभारत का समय आज से लग भग ५ सहस्र वर्ष पहिले, उसी युग में अव्ययावतार श्रीकृष्ण के द्वारा इन्द्रावतार अर्जुन के प्रति सारस्वतावतार गीतायोग का उपदेश हुआ। हम उन त्रिकाण्डवादियों से प्रश्न करते हैं कि, क्या महाभारत में आत्मा की मनः-प्राण-वाक् इन तीन कलाओं को जानने वाला कोई नहीं था ?। क्या उस युग में गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास, ये तीन आश्रम प्रचलित न थे ? क्या उस युग में विधि-आरण्यक-उपनिषत् ये तीन ब्राह्मणभाग विलुप्त थे !। क्या उस युग में कर्म्मठ-उपासक-एवं ज्ञानियों का अभाव था ?। क्या उस युग में कर्म्मयोग भक्तियोग-ज्ञानयोग प्रचलित नहीं थे ?। बस जो समाधान आप इन प्रश्नों का करेंगे, वही समाधान उक्त विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए पर्य्याप्त होगा।

१८९-महाभारतयुग के लोकोत्तर कर्म्मठो, उपासकों, तथा ज्ञाननिष्ठों का नाम संस्मरण, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान, नाम की योगत्रयी का तद्युगानुगत चरमोत्कर्ष, एवं तन्निबन्धना वस्तुस्थिति से अनुप्राणित 'बुद्धियोगात्मक' चतुर्थ 'योग' के सम्बन्ध में भगवान् का उद्घोष, और तदनुगता विस्मृति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब भगवान् की सम्मति का विचार कीजिए। स्मरण रहे, भगवद्गीता भगवत्गीता है, भगवान् का उपदेश है, न कि किसी लौकिक कर्म्मठ-भक्त का, अथवा ज्ञानी का। अतः भगवत्-गीता प्रतिपादित योग के सम्बन्ध में, दूसरे शब्दों में भगवद्गीता में जिस योग का निरूपण हुआ है !, उस के सम्बन्ध में भगवान् की सम्मति ही प्रामाणिक मानी जायगी। यह निर्विवाद है कि, जिस युग में पराशार, एवं वेदव्यास जैसे ज्ञानी विद्यमान हों, भीष्म-विदुर-अर्जुन जैसे भक्त विद्यमान हों, एवं राजसूय-अश्वमेध जैसे यज्ञ कराने वाले कर्म्मठ ब्राह्मण विद्यमान हों, उस युग में ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों हीं योग उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। न तीनों में से कोई एक भी योग लुप्त था, न तीनों के अनुयायी आश्रमों, एवं स्वरूपप्रदर्शक उपदेशकों का ही अभाव था, न तीनों के प्रतिपादक विधि-आरण्यक-उपनिषत् इन ग्रन्थों ही का अभाव था। विप्रतिपत्ति उठाने वालों के लिए ईश्वरसंपत्तिप्राप्ति के लिए जो कुछ होना चाहिए था, सबकुछ था। और इसी

आधार पर वादी यह कहता भी है कि, भगवान् ने अधिकारी के भेद से उन्हीं लोकप्रचलित तीनों योगों का स्पष्टीकरण किया है। क्या इस से पहिले इन का स्पष्टीकरण नहीं हुआ था ? । अस्तु, जाने दीजिए इस व्यर्थ के वाक्-कलह को। वस्तुस्थिति का विचार कीजिए। आप ही तो यह कते हैं कि, भगवान् ने नवीन कुछ नहीं कहा है, केवल प्रचलीत तीनों योगों का ही स्पष्टीकरण किया है। अच्छा, चलिए भगवान् से तो पूँछ लीजिए कि, क्या वे आप के सिद्धान्त से सम्मत है ? । लीजिए, सब कुछ चौपट होगया। भगवान् ने तो आपकी सभी आशाओं पर पानी फेरते हुए क्या कहा, सुनिए ! ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

१६०–'इमं विवस्वते योगम्' इत्यादि श्लोकत्रयी से अनुप्राणित पारम्परिक, तथा युग-धर्म्मव्यवच्छेद से विलुप्त बुद्धियोगात्मक 'योग' के सम्बन्ध में एतिहासिक तथ्य का संस्मरण—

श्लोकार्थ स्पष्ट है। भगवान् का अभिप्राय यही है कि, अर्जुन ! जिस योग (बुद्धियोग) का मैंने तुझे आज (इस वासुदेवशरीर से) उपदेश दिया हैं, सब से पहले मैने (अन्य शरीर से—देवयुगकाल में) इस योग का उपदेश विवस्वान् मनु को दिया था। विवस्वान् ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को (जो कि मनु पुराणों में श्राद्धदेव, किंवा श्रद्धादेव नाम से प्रसिद्ध है) इस का उपदेश दिया। वैवस्वतमनु ने अपने दस पुत्रों में से सर्व-ज्येष्ठ, भारतवर्ष के प्रथम सम्राट्, अयोध्याराजधानी के निर्म्माता इक्ष्वाकु पुत्र को इस पारम्परिक योग का उपदेश दिया। इसप्रकार विवस्वान् से मनु में, मनु से इक्ष्वाकु के द्वारा परम्परया विदेह जनक में, इन राजर्षियों में गुरु-शिष्य की परम्परा से यह योग प्रचलित रहा। परन्तु उस राजर्षि-परम्पराकाल में, और इस महाभारतकाल में बड़ा अन्तर होगया। बहुत समय होगया। इसी दीर्घकाल के व्यवधान से आगे जाकर मेरा वह योग आज इस युग (महाभारतयुग) में सर्वथा नष्ट होगया। लोग इसे भूल गए। क्योंकि तू मेरा भक्त है, साथ ही अभिन्न मित्र है, इसीलिए उस रहस्यपूर्ण, विशेषरूप से एकमात्र राजर्षिपरम्परा में हीं सुरक्षित उसी पुरातन योग का मैनें तुझे उपदेश दिया"।

१६१–बुद्धियोग की अपूर्वता, तथा विलक्षणता के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति-समुपस्थाताओं से किञ्चिदिव वस्तुस्वरूपानुबन्धी नम्र-आवेदन-निवेदन—

विप्रतिपत्ति उठाने वालो से हम पूँछते हैं कि, पूर्वकथनानुसार महाभारतयुग में जब तीनों योग प्रच-लित थे, और भगवान् ने उन्हीं का उपदेश दिया, तो भगवान् के—" जो योग नष्ट होगया था, वह तुझे आज

बतला रहा हूँ" इस कथन का क्या तात्पर्य्य ? । और फिर वह योग भी कैसा, जो परम्परया राजर्षि-सम्प्रदाय में हीं प्रतिष्ठित रहा, सर्वसाधारण ने उस से विशेष लाभ नहीं उठाया । इसी से भगवान् यह भी सिद्ध कर रहे हैं कि, रहस्यज्ञान के अभाव से उन अतीत युगों में भी सर्वसाधारण में तो लोक–वेद विहित कर्म्म–ज्ञान–भक्ति ये तीन सुप्रसिद्ध योग ही प्रचलित थे । रहस्यपूर्ण बुद्धियोग तो उस समय भी एक रहस्य की ही वस्तु थी । जिस राजर्षि (विवस्वान्) में सब से पहिले इस रहस्य का बीज वपन हुआ (सो भी मेरे ही द्वारा) उस परम्परा में ही यह प्रचलित रहा ।

१६२–रहस्यात्मक-बुद्धियोगात्मक-योग की महाभारतानुगता रहस्यपूर्णता, भगवान् के द्वारा अर्जुन के प्रति तद् रहस्योद्घाटन, एवं प्रक्रान्तयुग में आचार्य्यप्रवर श्रीमधुसूदन के द्वारा तच्छिष्य के प्रति तद्रहस्योपदेश—

रहस्यात्मक जो बुद्धियोग महाभारत जैसे ज्ञानोत्कर्ष के युग में भी यदि रहस्य की ही वस्तु थी, तो विगत शताब्दियों के व्याख्याता यदि उस से अपरिचित रहते हुए गीताशास्त्र को लोक-प्रचलित ज्ञान–भक्ति–कर्म्म-निष्ठाओं का ही प्रतिपादक सिद्ध करें, तो इस में उन दयनीय, करुणापात्र व्याख्याताओं का क्या दोष ? । और वही रहस्ययोग ईश्वरानुग्रह से यदि किसी ईश्वरविभूति के द्वारा (गुरुवर श्रीमधुसूदन जी ओझा के द्वारा) शिष्य निमित्त से पुनः प्रकट होजाय, और वह लोक में नवीन प्रतीत हो, तो इस में भी लोक का क्या दोष !

१६३–भगवान् वासुदेव कृष्ण की अनन्या शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना एक अन्या महती विप्रतिपत्ति का समुत्थान—

हाँ, एक विपत्ति और उठाई जासकती है । भगवान् की शास्त्रनिष्ठा अपूर्व है । वे कर्म्ममार्ग के निर्णय में शास्त्र को ही मुख्य प्रमाण मानते हैं, जैसाकि उन के-'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' इस वचन से स्पष्ट है । जब स्वयं भगवान् शास्त्र के ऐसे भक्त हैं, और भगवान् का रहस्यपूर्ण बुद्धियोग गीता–तिरिक्त शास्त्रों से सिद्ध नहीं है, तो वह कैसे माना जाय । प्रामाणिकता की बात जाने दीजिए, जिस का स्वरूप ही शास्त्रों में नहीं है, शास्त्र को ही कर्तव्याकर्तव्य में प्रमाण मानने वाले उन शास्त्रनिष्ठ भगवान् ने अपने इस काल्पनिक उपदेश का अधिकारी क्यों तो विवस्वान् को बनाया ?, और क्यों शास्त्र विरुद्ध इस योग का विवस्वान् ने अनुगमन किया ? । और फिर महाभारतयुग में वही अशास्त्रीय योग क्यों अर्जुन के प्रति उपदिष्ट हुआ" ? ।

१६४–'महती विप्रतिपत्ति' का वस्तुस्थिति के स्वरूप-विश्लेषण-माध्यम से निराकरण-प्रयास, एवं गीता के 'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः' का स्वरूप-समन्वय—

इस विप्रतिपत्ति का तो कुछ भी मूल्य नहीं है । प्रथमखण्डान्तर्गत **गीतानाममीमांसा**–प्रकरण में बड़े विस्तार के साथ इस का निराकरण किया जाचुका है, अतः यहाँ उस पिष्ट के पुनः पेषण की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रकरणसङ्गति के लिए यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, बुद्धियोग अवश्य ही शास्त्रीय है । परन्तु उपनिषदों में यह संकुचितरूप से हीं उपवर्णित है । भगवान्ने उसी का विस्तारसे निरूपण किया है, अतएव यह शास्त्र 'गीता'

(गान-विस्तार) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसी अपूर्व विस्तार के कारण यह गीताशास्त्र उपनिषत् कहलाया है। इस अपूर्वरहस्य के प्रथम गायक यही थे, अतएव यह **भगवन्** नाम से प्रसिद्ध हुई है। सचमुच संकुचितरूप से शास्त्रों में विद्यमान रहने पर भी लोक में इस का आविर्भाव–प्रचार एकमात्र इस अव्ययावतार के द्वारा ही हुआ है। इस दृष्टि से इस शास्त्रीय–रहस्ययोग के ये ही प्रथमद्रष्टा माने जाने चाहिए। इसीलिए भगवान् ने इसे अपना प्रातिस्विक मत मान लेने में कोई संकोच नहीं किया है—"**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः**"।

१९५ वैराग्यबुद्धियोग-निबन्धना शेषभूता समस्या का दिग्दर्शन, बोधगम्य समस्यानुगत आकार-प्रकार, एवं विचारणीया नवीना समस्या—

अत्र इस सम्बन्ध में केवल एक समस्या शेष रह जाती है। वह समस्या उक्त विप्रतिपत्तियों की अपेक्षा भी कहीं जटिल प्रतीत होती है। समस्या अवश्य जटिल है, परन्तु समस्या का आकार सर्वथा बोधगम्य है। गीता किसी अपूर्वरहस्य का प्रतिपादन करती है, यह भी ठीक। लोकनिष्ठाओं से वह अपूर्व है, यह भी सच। परन्तु उस अपूर्वता की आवश्यकता क्या रह गई?, यह पहिली समस्या, एवं उस अपूर्वता का स्वरूप क्या?, यह दूसरी समस्या। इन दोनों में से दूसरी समस्या की मीमांसा आगे के बुद्धियोगपरीक्षा–प्रकरण में विस्तार से होने वाली है। अतः प्रकृत में (इस का विचार छोडते हुए) केवल प्रथमा समस्या का ही विचार किया जाता है।

१९६–ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-नामक सुप्रसिद्ध योगों को गीता के द्वारा बुद्धियोग-स्वरूप-प्रदान, तदनुबन्धिनी बुद्धियोगरूपता, एवं तत्संसिद्धि के अनन्तर चतुर्थ-अपूर्व-बुद्धियोग की महती समस्यात्मकता, और तन्निराकरण-प्रयास—

समस्या उपस्थित करने वाला कहता है कि, ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों हीं समत्व-सम्पत्ति से युक्त हैं, अतएव तीनों हीं बुद्धियोग-स्थानीय बनते हुए शान्ति के कारण बने हुए हैं। यह मान लेने में तो कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि, ऐसा कर्म्मयोग, जो कि कामासक्ति, एवं फलासक्ति के कारण केवल प्रवृत्ति–प्रधान बनकर अपने मूलाधार ज्ञान की सम्पत् से च्युत होगया है सर्वथा ही हेय है। बिना ज्ञान के कर्म्म अयुक्तकर्म्म है, अतएव वह समत्वयोग से बञ्चित होता हुआ शान्ति के स्थान में समृद्धिलक्षणा अशान्ति का ही कारण बना हुआ है। इसीप्रकार ऐसा भक्तियोग, जो कि ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामनालक्षण आसक्तिभाव से युक्त होकर कर्म्मयोग की भाँति ज्ञानसम्पत्ति से च्युत होता हुआ विषम है, (योगसे बञ्चित ऐसा विषम भक्तियोग भी) सर्वथा हेय ही है। एवमेव ऐसा ज्ञानयोग, जो कर्म्मसम्पति से च्युत होता हुआ केवल शून्यं शून्यं है, सर्वथा ही हेय है। जबतक कर्म्म में ज्ञान का, भक्ति में निष्कामभाव का, एवं ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश, एवं क्रमशः कर्म्म से कामना का, भक्ति से फलाभिमुख्य का, ज्ञान से कर्म्मत्यागभाव का निराकरण नहीं कर दिया जाता, तबतक तीनों हीं योग अयोग ही हैं।

१९७-गीताशास्त्र के द्वारा तीनों योगों को ज्ञान-कर्म्म-निबन्धना समत्त्वयोगलक्षणा योगसम्पत्ति-प्रदान, तन्निबन्धन धर्म्म-ऐश्वर्य्य-सहकृत बुद्धियोग का स्वरूप-समन्वय, एवं तद्द्वारा योगत्रयी को महान् संरक्षण-प्रदान —

गीताशस्त्रने तीनों योगों में क्रमशः ज्ञान-निष्कामभाव-कर्म्म का समावेश करते हुए जब तीनों को ज्ञान-कर्म्ममय बना डाला, तीनों विषमयोगों को समत्त्वयोग-लक्षण-बुद्धियोग बना डाला, तो वे तीनों हीं सर्वथा उपादेय कोटि में आगए। तीनों हीं शान्ति के कारण बन गए। जब समतालक्षणा शान्ति इन तीनों संशोधित योगों से, गीता के शब्दों में धर्म्म-ऐश्वर्य्य-ज्ञानबुद्धियोगों से सिद्ध है, इन्हीं से जब हम कृतार्थ हैं, तो अब चौथे अपूर्व बुद्धियोग की अपूर्वता क्या शेष रह गई?, जिस के कि समावेश से त्रिकाण्डा गीता को चतुष्काण्डा मानने का द्रविड़ प्राणयाम किया गया?। भगवान् ने लोकप्रचलित तीनों को बुद्धियोग का रूप दे डाला। इस अपूर्वता से ही गीताशास्त्र की अपूर्वता सिद्ध होजाती है। साथ ही ऐसी अपूर्वता से लोकव्याख्या-सिद्ध त्रियोगसत्ता भी सुरक्षित रह जाती है।

१९८-प्रक्रान्त समस्या का निवारक 'अव्ययपुरुष', एवं राग-द्वेष-मूला उभयविधा आसक्ति से आत्यन्तिक-रूपेण असंस्पृष्ट वैराग्यभाव-निबन्धन अव्ययपुरुष से अनुगत ज्ञानकर्म्म-समन्वयात्मक अपूर्व बुद्धियोग—

इस समस्या का निराकरण करता है एकमात्र 'अव्ययपुरुष'। भगवान् उस बुद्धियोग को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, जो राग-द्वेष रहित होकर वैराग्यरूप में परिणत होता हुआ साक्षात् रूप से अव्यय के ज्ञान-कर्म्म का उपकारक बनता है। यह बुद्धियोग उन तीनों हीं बुद्धियोगों से भिन्न है। अतएव अवश्य ही इसकी स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है। इसी के सम्बन्ध से गीता त्रिकाण्डा न रह कर चतुष्काण्डा बन रही है।

१९९-संशोधित, अतएव बुद्धियोगात्मक तीनों योगों के ज्ञान-कर्म्म-निबन्धन समत्त्व का संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव विशेष आवेदन—

संशोधित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों योगों में भी ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय है। एवं स्वयं अपूर्व बुद्धियोग में भी ज्ञान-कर्म्म दो के अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व नहीं है। इस दृष्टि से तो चारों हीं समानधरा-तल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु चारों योगों के ज्ञान-कर्म्मों में अहोरात्र का अन्तर है। कर्म्मयोग-सम्बन्धी ज्ञानकर्म्म भिन्न है। भक्तियोग सम्बन्धी ज्ञानकर्म्म भिन्न हैं, ज्ञानयोग-सम्बन्धी कर्म्म-ज्ञान भिन्न हैं, एवं बुद्धियोग-सम्बन्धी ज्ञान-कर्म्म, किंवा कर्म्मज्ञान भिन्न हैं। इस भेद का कारण है-आत्मत्रयी।

२००-अव्ययपुरुषानुगत प्रकृतिभूत अक्षर, और क्षर से अनुप्राणित विभिन्नधर्म्मा ज्ञान-कर्म्म-भावों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

एक ही आत्मा के अव्यय-अक्षर-क्षर ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। अव्यय पुरुष नाम से प्रसिद्ध है, अक्षर-क्षर दोनों इस पुरुष की प्रकृतियाँ हैं। अक्षर अव्यक्त प्रकृति है, क्षर व्यक्त प्रकृति है। ज्ञान-कर्म्म की सर्वव्यापकता बतलाते हुए हमने ज्ञान कर्म्म के तीन पर्व बतलाए थे, एवं यह स्पष्ट कर दिया

गया था कि, 'ज्ञान-कर्म्म' (जानना-करना) ये अव्यय-पुरुष सम्बन्धी ज्ञान कर्म्म हैं । ज्ञाता—कर्त्तात्मक ज्ञान-कर्म्म अक्षर-सम्बन्धी ज्ञान कर्म्म हैं । एवं ज्ञेय-कर्म्म क्षर-सम्बन्धी ज्ञानकर्म हैं ।

२०१-ज्ञान, तथा कर्म्म के समत्व से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म-विवर्त्तों के चतुर्विध-संस्थानों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

परन्तु यहाँ ज्ञानकर्म्म के चार विवर्त्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए जाते हैं । 'ज्ञान से विज्ञान की ओर आना, विज्ञान से ज्ञान की ओर जाना' इस संचर-प्रतिसंचर-भाव से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-विज्ञान (ज्ञान-कर्म्म) द्वन्द्व का अव्यक्ता प्रकृति के साथ सम्बन्ध है । यह अव्यक्त अव्यक्तावस्था में ज्ञानमय है, वही व्यक्तावस्था में विज्ञानमय है । अव्यक्त से ही विश्व की प्रवृत्ति होती है, अव्यक्त में हीं व्यक्त विश्व प्रतिष्ठित रहता है, एवं प्रतिसंचरदशा में व्यक्त विश्व अव्यक्त में हीं लीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥१॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥२॥

२०२-अव्यक्त अक्षर की स्वरूप-महिमा, एवं तन्निबन्धन-ज्ञान-कर्म्म-समन्वय-प्रयास, और तदनुबन्धी योग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त गीता सिद्धान्त संचर-प्रतिसंचर का सम्बन्ध एकमात्र अव्यक्त से ही मान रहा है, एवं वह अव्यक्त 'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर ही है । इस एक अक्षरज्ञान के ही रात्र्यागम-अहरागम भेद से ज्ञान-विज्ञान दो पर्व होजाते हैं । ये ही प्राकृत ज्ञान-कर्म्म हैं । सांख्यशास्त्र इसी अक्षरज्ञान-कर्म्म पर प्रतिष्ठित है । अव्यक्तवादी सांख्य की दृष्टि अव्यय पर नहीं है । वह यह समझ रहा है कि, अव्यय के ज्ञान-कर्म्म का विश्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । सांख्य की इसी अव्यक्तदृष्टि का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

२०३-अव्यक्ताक्षरानन्तरभावी व्यक्त क्षर, तन्निबन्धना ज्ञान-कर्म्म-विभूति एवं तत्समन्वय-प्रयास—

अव्यक्त अक्षर के अनन्तर स्थान है व्यक्त क्षर का । यह विश्वमूर्त्ति है, जैसाकि-'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस वाक्य से स्पष्ट है । क्षरावस्थापन्न ज्ञान-कर्म विश्वात्मक ज्ञानकर्म्म हैं । ये कर्म्मयोगप्रतिष्ठा हैं । इधर अक्षरात्मक अव्यक्त ज्ञानकर्म्म ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा हैं । अब भक्तियोग, और बुद्धियोग, ये दो योग बच जाते हैं । इन दोनों का सम्बन्ध अव्ययपुरुष से है । इन में भी बुद्धियोग का सम्बन्ध तो विशुद्ध अव्ययपुरुष से

ही है, परन्तु भक्तियोग का एक भाग अव्यय पर प्रतिष्ठित है, एवं दूसरा भाग अव्यय पर प्रतिष्ठित है। अव्यक्त के कर्म्म से, एवं अव्यय के कर्म्मात्मक ज्ञान से भक्ति का स्वरूप निष्पन्न हुआ है ।

२०४–आनन्दादि धर्म्मों से नित्य समन्वित अव्ययपुरुष से अनुगता ज्ञान-कर्म्म-विभूति का स्वरूप-संस्मरण —

आनन्द–विज्ञान–मनः–समष्टि अव्ययज्ञान है, मनः–प्राण–वाक्–समष्टि अव्ययकर्म है। दोनों समभावापन्न हैं। त्रिगुणभाव दोष है। दोषरूप त्रिगुणभाव का त्रिगुणप्रकृति (अव्यक्त) से सम्बन्ध है। ज्ञान–कर्मरूप यह अव्ययब्रह्म उस प्रकृतिदोष से पृथक् है। अतएव इस 'अव्यय' को 'निर्दोष' कहा गया है। दोष ही विषमता का कारण है। फलतः निर्दोष ब्रह्म का समत्व भी सिद्ध होजाता है, जैसाकि–'निर्दोष हि समं ब्रह्म'–'समं सर्वेषु भूते तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है।

२०५–मनः-प्राणादि धर्म्मों से नित्य समन्वित अव्ययपुरुष से अनुगता ज्ञान कर्म्म-विभूति का स्वरूप-संस्मरण—

अव्ययपुरुष का मनः–प्राण–वाङ्मय कर्मभाग ही अव्यक्त के द्वारा होने वाली सृष्टि का साक्षी बनता है। इसी अनुग्रह से अव्यक्त अक्षर भी ज्ञान कर्म्ममय बन जाता है। एवं क्षर (अक्षर के द्वारा) भी ज्ञानकर्ममय बन जाता है। मनःप्राणदि तीनों में से मनोभाग स्वयं अव्यय के कर्म्मभाग की प्रतिष्ठा बना रहता है। इस के प्राणानुग्रह से अक्षर का सञ्चालन होता है, वागनुग्रह से क्षरसृष्टि रूप में परिणत होता है।

२०६–अव्यक्ता प्रकृति का स्वरूप-वितानात्मक समन्वय, एवं अव्यक्त तथा व्यक्त-भावानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों से अनुप्राणिता समता-विषमता का तारतम्य-समन्वयात्मक स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास, और अव्यक्तभावानुगत ज्ञानयोग की क्लेशावहता का संस्मरण —

अव्यक्ता प्रकृति के ही अक्षर-क्षर नामक दो रूप हैं। अव्यक्तावस्था में ज्ञान प्रधान है, कर्म्म गौण है। व्यक्तावस्था में ज्ञान गौण है, कर्म्म प्रधान है। दोनों हीं एकप्रकार से समता से च्युत हैं। दोनों की समानमात्रा में समत्व का उदय सम्भव है। क्योंकि कर्म्मयोग का व्यक्त ज्ञान कर्म्म से सम्बन्ध है, एवं ज्ञानयोग का अव्यक्त-ज्ञान कर्म्म से हीं सम्बन्ध है, अतएव दोनों हीं ज्ञान-कर्म्म सत्तादृष्टि से सम होते हुए भी ज्ञान कर्म्म की गौण दृष्टि से विषम हैं, सदोष हैं। अतएव हम कहसकते हैं कि, व्यक्तक्षरानुगामी ज्ञानगर्भित कर्म्ममय कर्म्मयोग भी आंशिक विषमता के रहने से पूर्ण शान्ति का कारण नहीं है। एवं अव्यक्त अक्षरानुगामी कर्म्मगर्भित ज्ञानमय ज्ञानयोग भी आंशिक विषमता के कारण पूर्ण शान्ति का कारण नहीं है। हाँ, दोनों की यदि तुलना की जायगी, तो हम कर्म्मयोग को ही श्रेष्ठ कहेंगे। क्यों कि पारलौकिक फलदृष्टि से तो दोनों का फल समान है। परन्तु कर्म्मयोग में लोकसंग्रह है। क्लेश का अभाव है, उधर ज्ञानयोग में लोकसंग्राहक कर्म्मों का भी अभाव है, एवं अव्यक्त भाव के कारण क्लेश भी अधिक है।

२०७–'सा परानुरक्तिरीश्वरे' मूलक सुप्रसिद्ध भक्तियोग से अनुप्राणित अव्ययपुरुषानुबन्धी ज्ञानसमत्त्व, तथा व्यक्त-क्षरनिबन्धन-कर्म्मसमत्त्व, और तदुभयसमन्वयात्मक रहस्य-पूर्ण-भक्तियोग का रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास—

भक्तियोग में व्यक्त कर्म्म है, एवं ज्ञान अव्यय का है। "यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" के अनुसार अव्यय ही ईश्वर है। एवं–"सा परानुरक्तिरीश्वरे" के अनुसार परानुरक्ति (पर नामक अव्यय की अनुरक्ति) ही भक्ति है। भक्त सम्पूर्ण व्यक्त कर्म्म करेगा, लोकसंग्रह में नित्य युक्त रहेगा, परन्तु सर्वकर्म्म ईश्वर के प्रति ही अर्पित करता रहेगा। यह विशेष लक्ष्य में रखने की बात है कि, भक्ति में ज्ञान अव्यय-सम्बधी है, कर्म्म व्यक्तक्षर–सम्बन्धी है। अव्ययसम्बन्धी ज्ञान का तात्पर्य्य है–कर्म्माव्यय। भक्त ईश्वर के ज्ञान भाग से सम्बन्ध नहीं करता। वह तो केवल कर्म्म का अनुयायी है। इस कर्म्म के द्वारा सजातीयाकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार इस का सम्बन्ध मनः प्राणवाङ्मय उसके कर्म्मभाग के साथ ही होता है। क्योंकि अव्यक्त–व्यक्त की अपेक्षा से अव्यय का वह कर्म्मभाग ज्ञानात्मक ही माना जाता है। अतएव उस अव्यय को हम इस भक्त के लिए ज्ञान हीं कहेंगे। क्योंकि भक्तिकाण्ड में क्लेश भी नहीं है, व्यक्तकर्म्म के संग्रह से लोकसंग्रह की भी सर्वात्मना रक्षा है, और सबसे बडी विशेषता निर्दोष समब्रह्म के कर्म्मात्मक ज्ञान भाग का अवयव बने रहना है। अतएव व्यक्तक्षर–कर्म्मानुगामी–अव्ययकर्म्मरूप ज्ञानानुगामी यह भक्तियोग विशेष शान्ति का कारण बनता हुआ कर्म्मयोग से भी ऊँची श्रेणि में मान लिया गया है, जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है।

२०८–अव्यक्ताव्यक्तातीत-अव्यय, अव्यक्ताक्षर, व्यक्तक्षर से अनुप्राणित योगों के ज्ञान-कर्म्म-निबन्धन-विभिन्न-स्वरूप-समत्त्वों का दिग्दर्शन-प्रयास,-और तन्निबन्धना श्रेणिविभाग-मर्य्यादा—

अव्यक्त-अक्षरानुबन्धी कर्म्मगर्भित ज्ञानमय ज्ञानयोग में क्लेश, लोकसंग्रह का विघात, समत्त्वलक्षण अव्यय के ज्ञानकर्म्म का असम्बन्ध, अतएव यह प्रथम श्रेणि में प्रतिष्ठित है। व्यक्तक्षरानुबन्धी ज्ञानगर्भित कर्म्ममय कर्म्मयोग में क्लेश नहीं, लोकसंग्रह की रक्षा, अतएव ज्ञानयोग की अपेक्षा ऊँची श्रेणि में प्रतिष्ठित है। परन्तु ज्ञानयोगवत् समत्त्वलक्षण अव्यय के ज्ञानकर्म्म से वञ्चित, अतएव भक्तियोग से नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित है। व्यक्त कर्म्म, अव्ययानुबन्धी कर्म्मात्मक ज्ञान, दोनों से युक्त, अतएव ज्ञानकर्म्ममय भक्तियोग में क्लेश का अभाव है, लोकसंग्रह की पूर्ण रक्षा है, अव्यय की भक्ति (भाग-अंश-अवयव) बनने का सौभाग्य है। अतएव यह कर्म्मयोग से भी श्रेष्ठ है।

२०९–योगानुबन्धी राग, तथा द्वेष-भावों का स्वरूप-संस्मरण, और तन्निबन्धन संस्थानुगत-श्रेणिविभाग—

ज्ञानयोग में कर्म्म के साथ द्वेष नहीं है, परन्तु ज्ञान के साथ राग है। कर्म्मयोग में ज्ञान के साथ द्वेष नहीं है, परन्तु कर्म्म के साथ राग है। भक्तियोग में ज्ञान कर्म्म, दोनों के साथ रागद्वेष तो नहीं है, परन्तु एकभागानुबन्धिनी विषमता सुरक्षित है। अतएव बुद्धियोग की दृष्टि में तीनों हीं नीची श्रेणि में प्रतिष्टित हैं।

२१०- अपेक्षिता पूर्णशान्ति की स्वरूप-जिज्ञासा, संशोधिता योगत्रयी की अपूर्णता, एवं पूर्णशान्ति-प्रवर्त्तक चतुर्थ अव्ययानुबन्धी वैराग्यबुद्धियोग का स्वरूप संस्मरण, एवं तदनुबन्धी पूर्णा ज्ञान-कर्म्म-विभूतियों का दिग्दर्शन—

पूर्णशान्ति कब हो, जब कि ज्ञान–कर्म्म दोनों समतुलित रहें। माध्यमिक ज्ञानकर्म्ममय आत्मा का जबतक कर्म्मयोग–सम्बन्धी ज्ञान कर्म्म के साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म्म का पलडा भारी है, ज्ञान दबा हुआ है। क्यों कि कर्म्ममार्ग में अधिभूत की ही प्रधानता है। यह ठीक है, कि निष्कामभाव के कारण यह धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्म संस्कार का जनक नहीं बनेगा। फिर भी व्यक्त क्षर को अपना प्रधान आलम्बन बनाता हुआ यह योग पूर्णसमता का समर्थक नहीं बन सकता। राग से पूर्ण विराम नहीं होसकता। अभिनिवेश हट जायगा। रागासक्ति अवश्य रहेगी। इसीप्रकार कर्म्मात्मा का जबतक ज्ञानयोग सम्बन्धी ज्ञान–कर्म्म के साथ सम्बन्ध है, तबतक ज्ञान का पलड़ा भारी है, कर्म्म दबा हुआ है। क्योंकि ज्ञानमार्ग में अधिदैवत की ही प्रधानता है। यह ठीक है कि, असंग ज्ञान की प्रधानता से यह ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञान संस्कारलेप नहीं रहने देगा, फिर भी अव्यक्त अक्षर को अपना प्रधान आलम्बन बनाता हुआ यह योग पूर्ण समता का समर्थक नहीं बन सकता। राग से एकान्ततः छुटकारा सम्भव नहीं है। मोह हट गया, रागासक्ति अब भी रह ही गई।

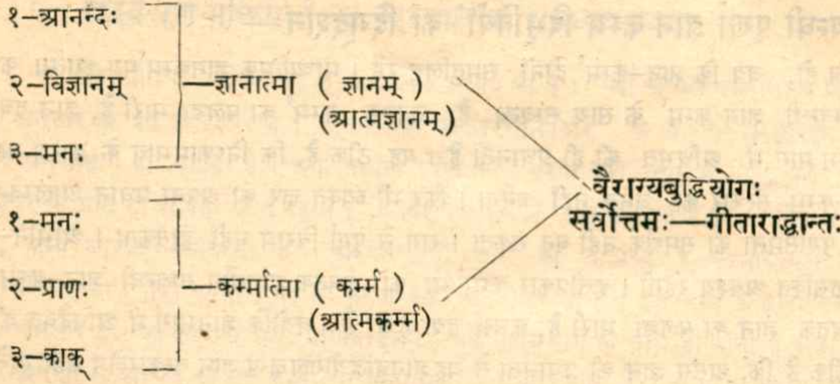
२११–कर्म्मात्मानुबन्धी भक्तियोग, और तन्निबन्धना समता-विषमता का दिग्दर्शन—

एवमेव कर्म्मात्मा जबतक भक्तियोग–सम्बन्धी कर्म्म ज्ञान का अनुगामी है, तबतक व्यक्त कर्म्म, अव्ययज्ञान, इन विजातीय कर्म्म–ज्ञान के समन्वय से विषमता बनी हुई है। यह ठीक है कि, निष्कामभाव के कारण इस योग में संस्कारबन्धन को प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता, ज्ञानकर्म्म की समता से राग–द्वेष–का भी अभाव है। परन्तु विजातीय ज्ञान–कर्म्म का समत्व विषमता से एकान्ततः पृथक् नहीं माना जासकता। अस्मिता हट जायगी, परन्तु विषमता बनी ही रहेगी।

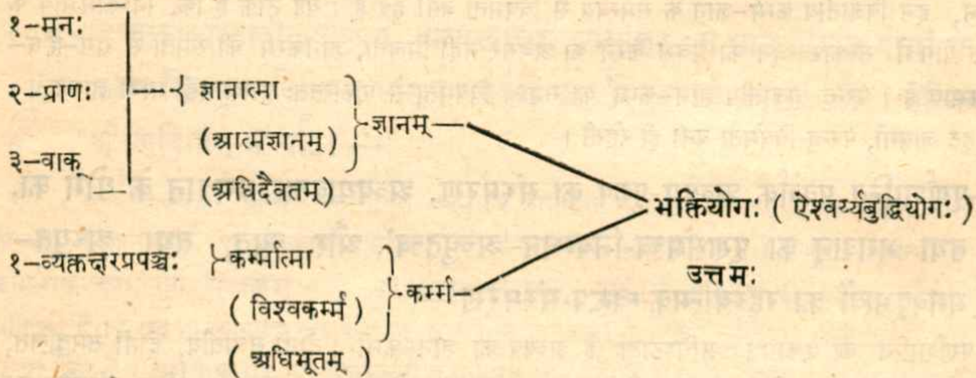
२१२–पूर्णशान्ति प्रवर्त्तक अव्यय-पुरुष का संस्मरण, अव्ययावतार भगवान् के योग का, तथा भगवान् का पूर्णसमत्त्व-निबन्धन-'अच्युतत्त्व', और च्युत, तथा अच्युत–भगवद्भावों का रहस्यात्मक-स्वरूप-संस्मरण—

पूर्णशान्ति का एकमात्र अधिष्ठाता है अव्यय का ज्ञान–कर्म्म। दोनों सजातीय, दोनों समतुलित, अतएव सर्वथा सम। राग–द्वेष का आत्यन्तिक अभाव। इस रागद्वेषवियुक्त, सर्वथा समतुलित बुद्धियोग का ही नाम वैराग्यबुद्धियोग है, यही अनासक्तियोग है। यही भगवान् का अपना मत है। भगवान् अव्यय के अवतार हैं। वैराग्यबुद्धियोग का अव्यय के ज्ञान कर्म्म के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इस ज्ञान–कर्म्म को कर्म्मयोग–ज्ञानयोग–भक्तियोग के ज्ञान कर्म्मों के साथ मिला दीजिए। तीनों का अपना बल कम होजायगा, वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजायगी। ज्ञान कर्म्म का गौण–मुख्य–भाव हट जायगा। यही इस योग की अपूर्वता है। इसी अपूर्वता के कारण इसे तीनों प्रचलितयोगों से स्वतन्त्र माना गया है। इसी ने त्रिकाण्डा गीता को चतुष्काण्डा सिद्ध किया है। इस में विषमतालक्षणा च्युति का अभाव है। इसी योग के अनुष्ठान से भगवान् कृष्ण और और योगों के अनुगामी, अतएव च्युत भगवानों की तुलना में 'अच्युतभगवान्' कहलाए हैं। एवं यही कृष्ण का पूर्णावतारत्त्व–समन्वय है।

२१३–अव्ययात्मनिबन्धन–ज्ञान कर्म्म का स्वरूप–समन्वय, एवं तदनुबन्धी सर्वोत्तम–वैरागबुद्धियोगात्मक 'बुद्धियोग' (१)—

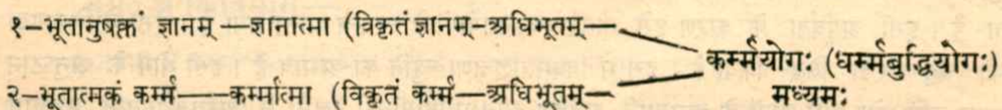


२१४–अक्षरात्मनिबन्धन–ज्ञानकर्म्म का स्वरूप–समन्वय, एवं तदनुबन्धी उत्तम–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक–'भक्तियोग' (२)—



——— * ———

२१५–व्यक्ताक्षरात्मनिबन्धन–ज्ञान कर्म्म का स्वरूप–समन्वय, एवं तदनुबन्धी मध्यम–'धर्म्मबुधियोगा'त्मक 'कर्म्मयोग' (३)—



——— * ———

२१६–अव्यक्ताक्षरात्मनिबन्धन ज्ञान–कर्म्म का स्वरूप–समन्वय, एवं तदनुबन्धी प्रथम–'ज्ञानबुद्धियोगात्मक'–'ज्ञानयोग' (४)—

१–अव्यक्तप्रधानं ज्ञानम्––ज्ञानात्मा (प्राकृतं ज्ञानं–अधिदैवतम्)––
२–अव्यक्तप्रधानं कर्म्म–––कर्म्मात्मा (प्राकृतं कर्म्म–अधिदैवतम्)––
> ज्ञानयोगः (ज्ञानबुद्धियोगः) प्रथमः

——— :०: ———

२१७–पुरुष-प्रकृति-का स्वरूप-दिग्दर्शन—

[१] १–विद्याकर्म्ममयः–अव्ययात्मा—बुद्धियोगप्रतिष्ठा ।
[२] २–कर्म्ममयः——अव्ययात्मा—भक्तियोगप्रतिष्ठा ।
} १ पुरुषः

——— * ———

[३] १–विकृतज्ञानकर्म्ममयः—क्षरात्मा——कर्म्मयोगप्रतिष्ठा ।
[४] २–प्राकृतज्ञानकर्म्ममयः—अक्षरात्मा––ज्ञानयोगप्रतिष्ठा ।
} २ प्रकृतिः

——— * ———

२१८–संशोधित ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग के अन्तर का दिगदर्शन, एवं प्रकृत-प्रकरण का अनुसरण—

संशोधित ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए प्रसंगवश भक्तियोग, एवं बुद्धियोग के तारतम्य की भी मीमांसा करनी पड़ी । मूल लक्ष्य इस प्रकरण का है 'ज्ञानयोग' । अतः प्रासङ्गिक वक्तव्य को यही उपसंहृत कर प्रकृत का अनुसरण किया जारहा है ।

२१९–ज्ञानयोग के स्वरूप-समन्वय के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन, एवं ज्ञानयोग-निबन्धना साध्य-साधन-भाव-निबन्धना उपकार्य्य-उपकारकता का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ज्ञानयोग में ज्ञान-विज्ञान-भाव से ज्ञान–कर्म्म दोनों का संग्रह है । और ऐसा होना न्यायप्राप्त भी है, जब कि आत्मतत्त्व–मर्य्यादा में ज्ञान–कर्म्म दोनों समविष्ट हैं । जो महानुभाव ज्ञान--कर्म्म का परस्पर विरोध मानते हैं, उन्हें भी यह तो मान हीं लेना पड़ेगा कि, ज्ञान से ही कर्म्म की प्रवृत्ति होती है । विना इच्छा के कोई कर्म्म सम्भव नहीं । बिना ज्ञान के इच्छा का प्रादुर्भाव असम्भव है । इसप्रकार कर्म्ममात्र ऐच्छिक बनते हुए अपने मूल में ज्ञान को ही प्रतिष्ठित किए हैं । दूसरे शब्दों में-यों कह लीजिए कि, ज्ञान से ही हम कर्म्म करने में समर्थ होते हैं । ज्ञान उपकारक बन रहा है, कर्म्म उपकार्य्य बनता हुआ ज्ञान से उपकृत है । इसीप्रकार कर्म्म भी ज्ञान का जनक बनता है, अध्ययन

कर्म्म से ज्ञानविकासलक्षणा ज्ञानोत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्धा है। एक विद्वान् का सम्पूर्ण ज्ञान अध्ययनादिरूप कर्म्म की ही कृपा का फल है। यहाँ कर्म्म उपकारक बन रहा है, ज्ञान उपकार्य्य बनता हुआ कर्म्म से उपकृत है। दोनों का क्या सम्बन्ध ?, उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध।

२२०–ज्ञान-सहकृत-कर्म्मानुबन्धी प्रवृत्तिभाव, तथा निवृत्तिभाव से अनुप्राणिता 'प्रवृत्ति', और 'निवृत्ति' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

ज्ञानसहकृत कर्म्म की प्रवृत्ति–निवृत्ति--भेद से दो अवस्थाएँ मानीं गईं हैं। कर्म्म-जनित वासना संस्कार, एवं ज्ञानजनित भावनासंस्कार के साथ प्रज्ञानयुक्त प्राज्ञजीवात्मा का चितिलक्षण जो अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, उसे ही "हृद्ग्रन्थि" कहा जाता है। इस हृद्ग्रन्थि को उत्पन्न करने वाला, एवं उत्पन्न हृद्ग्रन्थि को (उतरोत्तर संस्कारबन्धन से) दृढ़मूल करने वाला वासनामय कर्म्म ही "प्रवृत्तकर्म्म" नाम से प्रसिद्ध है। जिसप्रकार गाँठ पर गाँठ लगने से ग्रन्थि के उदर में प्रतिष्ठित वस्तुतत्त्व अधिकाधिक बन्धन में आता जाता है, एवमेव वासनात्मक प्रवृत्तकर्म्मलक्षणा ग्रन्थिपरम्परा से उत्तरोत्तर आत्मप्रकाश दबता जाता है। वे आसक्ति–कामनामय कर्म्म विद्यासापेक्ष सत्कर्म्म हों, अथवा विद्यानिरपेक्ष सत् कर्म्म हों, सभी प्रवृत्तकर्म्म माने जायँगे, एवं इनका एकमात्र परिणाम होगा आत्मबन्धन।

२२१–प्रवृत्तिकर्म्मसापेक्ष निवृत्तकर्म्म के तात्त्विक स्वरूप का समन्वय, एवं अहन्त्व, और ममत्त्व से शून्या ज्ञानकामना से नित्ययुक्त 'ज्ञानयोग' का स्वरूप-संस्मरण—

निवृत्तकर्म्म ठीक इससे उलटा है। प्रवृतकर्म्म की कृपा से पहिले से विद्यमान हृद्ग्रन्थि को खोलना, एवं आगे के वासनासंस्कार का निरोध करना निवृत्तकर्म्म नाम से प्रसिद्ध है। दोनों कर्म्मों का एकमात्र फल है–आत्ममुक्ति। दोनों कर्म्मों में से प्रवृतकर्म्म ज्ञानजनित है, ज्ञान से उत्पन्न होने वाला है। प्रवृत्तकर्म्म इच्छा को मूलधरातल बनाने के कारण ज्ञानपूर्वक ही होता है। अज्ञानकृत कर्म्म भी ज्ञानसम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। ज्ञानाभाव अज्ञान नहीं है, अपितु अज्ञानावृत ज्ञान को ही मोह कहते हैं, इस मोहात्मक अज्ञान (जिसके कि उदर में ज्ञान बैठा है) कर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। इसे हम एक दृष्टि से विरुद्ध ज्ञान, किंवा अर्द्धज्ञानपूर्वक कर्म्म भी कह सकते हैं। ज्ञानपूर्विका इच्छा से ही प्रवृत्तकर्म्म की स्वरूप–निष्पत्ति होती है, अतएव इस प्रवृत्तकर्म्म को **सकामकर्म्म**, किंवा **काम्यकर्म्म** कह सकते हैं।

२२२-जीवेच्छा, तथा ईश्वरेच्छा का स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुगता-योगविभूति का दिग्दर्शन—

दूसरा है निवृत्तकर्म्म। यह ज्ञान के साधक ज्ञान को विकसित करने वाला है। ज्ञानी बनाने वाला एकमात्र निवृत्तकर्म्म ही है। इसमें कामना का अभाव है। यह अपनेपन से निर्मुक्त है। जीवेच्छात्का इससे सम्बन्ध नहीं है, अपितु ईश्वरेच्छातन्त्र से स्वतः एव इसका सञ्चालन होता रहता है। यद्यपि इसका स्वरूप भी ज्ञान को, और इच्छा को मूल में रखता है। परन्तु न यह ज्ञान हमारा (जीवात्मा) ज्ञान है, न यह इच्छा हमारी इच्छा ही है। अहंत्त्व--ममत्त्व से शून्य जीवज्ञान–कामना से विरहित, केवल ईश्वरज्ञानेच्छा से संयुक्त यह निवृत्तकर्म्म कर्म्मनिमित्तभूत जीवात्मा की अपेक्षा से निष्कामकर्म्म कहलाता हुआ ज्ञान का जनक ही माना जायगा।

२२३-ममत्वमूला कामना से अनुप्राणिता संस्कारविभूति का स्वरूप-दिगदर्शन, एवं निष्काम-सकाम-भावानुबन्धी कर्म्म का स्वरूप-संस्मरण—

संस्कार उत्पन्न होता है ममत्वमूला कामना से। जब निष्कामकर्म्ममूलक ममत्वशून्य कर्म्म में कामना नहीं, तो संस्कार का उदय हो भी कैसे सकता है। थोड़ी देर के लिए उदय मान भी लिया जाय, तब भी यह प्रवृत्तकर्म्मवत् आत्मज्योति (अन्तर्ज्योति) का आवरक नहीं बन सकता। बन्धन में आकर जैसे एक व्यक्ति छटपटाने लगता है, क्षुब्ध होजाता है, एवमेव हृद्ग्रन्थिप्रवर्त्तक वासनामय प्रवृत्त कर्म्म वासनावरण से आत्मा को आवृत कर जहाँ क्षुब्ध-अशान्त बना देता है, वहाँ निष्कामलक्षण निवृत्त-कर्म्म संस्कारावरणोच्छेदपूर्वक हृद्ग्रन्थि से आत्मा को विमुक्त कर उसे शान्त बना देता है। आत्मा को प्रवृत्युन्मुख बनाने वाले कर्म्म प्रवृत्तकर्म्म हैं, एवं वे काम्यकर्म्म हैं। आत्मा को निवृत्युन्मुख बनाने वाले कर्म्म निवृत्तकर्म्म हैं, एवं वे निष्कामकर्म्म है। निष्कामकर्म्म आत्मप्रवृत्ति का निरोध करते हैं, एवं सकामकर्म्म आत्मप्रवृत्ति को उत्तेजित करते हैं। यही निष्कर्ष है।

२२४-विभिन्न दृष्टि से प्रवृत्ति, तथा निवृत्ति तत्त्वों के स्वरूप-लक्षणों का समन्वय-प्रयास, एवं तदनुबन्धी प्रवृत्तकर्म्म, तथा निवृत्तकर्म्म —

दूसरी दृष्टि से प्रवृत्त-निवृत्त-कर्म्मों के लक्षण का समन्वय कीजिए। स्वयं कर्म्म न प्रवृत्ति का कारण बनता, न निवृत्ति का। कर्म्मजनिता वासना ही प्रवृत्ति का कारण बनती है, जो कि वासनात्मक उक्थकर्म्म सञ्चितकर्म्म नाम से प्रसिद्ध है। कामनापूर्वक जो कर्म्म किए जाते हैं, वे वासनासंस्कार उत्पन्न करते हैं। इन वासनाओं की राशि प्रज्ञानधरातल पर सञ्चित रहती है। यही उक्थरूप वासनात्मक कर्म्म आत्मा को प्रवृत्युन्मुख बनाते हैं। क्योंकि प्रवृत्ति का मूलकारण संस्कारकर्म्म है, एवं वह उत्पन्न होता है-कामनामय कर्म्म से, अतएव ताच्छब्द्यन्याय से प्रवृत्तिकर्म्म (वासनात्मक कर्म्म) जनकत्वेन इन कामनामय कर्म्मों को भी प्रवृत्तकर्म्म मान लिया जाता है।

२२५-निष्कामभाव, तथा निवृत्तभाव की विभिन्नता, कामनाशून्य कर्म्मात्मा की निवृत्युन्मुखता, निष्कामबुद्धिसहकृत कर्म्म का स्वरूप संस्मरण, एवं समृद्ध ज्ञानाग्नि के द्वारा सञ्चित कर्म्मसंस्कारों का प्रज्ज्वलन—

निष्कामकर्म्म निवृत्तकर्म्म नहीं है। अपितु कामनाशून्य आत्मा हीं निवृत्युन्मुख बनता है। परन्तु आत्मा का यह निष्कामभाव, किंवा निवृत्तभाव निष्कामकर्म्म से ही विकसित होता है, अतएव ताच्छब्द्य-न्याय से निवृत्तभावसाधक निष्कामकर्म्म को भी निवृत्तकर्म्म कह दिया जाता है। निष्कामबुद्ध्या कृत कर्म्म स्वयं तो संस्कार के जनक न बनते हुए उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि करते हैं, एवं सञ्चित वासनासंस्कार को हटाते जाते हैं। अथवा यों समझिए कि, निष्कामकर्म्म के द्वारा ज्यों ज्यों आत्मज्ञान प्रबल होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञानाघात से वासनाकर्म्म शिथिल बनता जाता है, एवं त्यों त्यों ही आत्मा निवृत्तिभाव की ओर अग्रेसर होता जाता है। आगन्तुक संस्कारात्मक कर्म्म अन्धकार है, आत्मज्ञान प्रकाश है। प्रकाश के आगमन पर जैसे अन्धकार अभिभूत होजाता है, एवमेव आत्मज्ञानप्रकाश के उदित होने पर अन्ध-तमोरूप वासनात्मक कर्म्म अपने आप अभिभूत होजाता है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

२२६–'न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्म्यं पुरुषोऽश्नुते' का तात्त्विक स्वरूप–संस्मरण, एवं तन्निबन्धन–कर्म्मसमन्वित ज्ञानयोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

निवृत्तकर्म्म सञ्चित कर्म्मसंस्कारों को हटाकर आत्मा को विशुद्ध ज्ञानरूप में परिणत करता हुआ स्वयं भी कतकरजोवत् (निर्म्मली की भाँति) हट जाता है। केवल ज्ञान का ही साम्राज्य रह जाता है। प्रवृत्तकर्म्म जहाँ ज्ञानयोग का विरोधी है, वहाँ निवृत्तकर्म्म ज्ञानयोग का साधक है। नैष्कर्म्यभाव (शुद्धज्ञानावाप्ति) कर्म्म-परित्याग से कभी सम्भव नहीं है, जैसाकि—"**न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**" इत्यादि गीता-सिद्धान्तों से स्पष्ट है। निष्कामलक्षण निवृत्तकर्म्म से उदित विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति आत्मा के साथ हमारी बुद्धि का योग होजाना हीं "**ज्ञानबुद्धियोग**", किंवा "**ज्ञानयोग**" है। यही ज्ञान मुक्ति का कारण है। ज्ञानोदय ही आत्मा की मुक्तावस्था है। आत्मा स्वस्वरूप से नित्यमुक्त है। ज्ञानाग्नि का काम है तमोमय, वासनात्मक कर्म्म-प्रपञ्च को जला डालना। कर्म्म का आवरण रहना हीं आत्मबन्धन है, एवं ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्म्मप्रप नष्ट होजाना हीं आत्ममुक्ति है।

२२७–आत्मबन्धनोपयिक कर्म्मबन्धन की स्वरूप–दिशा, एवं कर्म्मानुगत 'बन्धन' तत्त्व से अनुप्राणित–'हृद्ग्रन्थिबन्धन'–'वासनाबन्धन'–'कर्म्मत्रयबन्धन' नामक अत्यन्त रहस्यपूर्ण त्रिविध बन्धनों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

जो कर्म्मबन्धन आत्मबन्धन का कारण बनता है, उस बन्धन को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। वे ही तीनों बन्धन **हृद्ग्रन्थिबन्धन, वासनाबन्धन, कर्म्मत्रयबन्धन**, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। अक्षरबन्धन हृद्ग्रन्थिबन्धन है, आत्मक्षरबन्धन वासनाबन्धन है, एवं विकारक्षरबन्धन कर्म्मत्रयबन्धन है। आत्मा अव्ययस्वरूप है। अव्ययपुरुष ही आत्मा है। यह अपनी अव्यक्ता अक्षरप्रकृति, एवं व्यक्ता क्षरप्रकृति के साथ नित्य युक्त रहता है। अक्षर का अनुग्रह बुद्धि पर रहता है, एवं क्षरप्रकृति का अनुग्रह मन पर रहता है। मन का सम्बन्ध विकारक्षरात्मक बहिरङ्ग विषयों के साथ रहता है। कामनापूर्वक इन वैकारिक कर्म्मों में यदि मन प्रवृत्त रहता है, तो वे कर्म्म वासनासंस्कार के जनक बन जाते हैं। वे काम्य कर्म्म विद्यासापेक्ष यज्ञ–तप–दान, विद्यानिरपेक्ष इष्ट–आपूर्त–दत्त, विद्यानिरपेक्ष राजनैतिक–सामाजिक, भेद से तीन भागों में विभक्त माने जासकते हैं। इन तीनों कर्म्मों की प्रवृत्ति से आत्मा क्षुब्ध रहता है। कारण इसका यही है कि, आत्मा वैकारिक जगत् से पृथक् है, पृथग्धर्म्मा है। जिसप्रकार विजातीय कण्टक शरीर में प्रविष्ट होकर शरीराग्नि के क्षोभ का कारण बन जाता है, एवमेव विजातीय वैकारिक–कर्म्मत्रयी कामनामयी प्रवृत्ति से आत्मक्षोभ का कारण बन जाती है। यही पहिला कर्म्मबन्धन है। इसका प्रथमाघात शरीर पर होता है, शरीर के द्वारा मन पर, मन के द्वारा बुद्धि पर, एवं तद्द्वारा आत्मा पर आक्रमण होता है।

२२८–कामनामयी कर्म्मत्रयी से उत्पन्न संस्कारों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

कामनामयी कर्म्मत्रयी से संस्कार उत्पन्न हुआ। संस्कारने क्षरमूर्त्ति मन को आवृत कर दिया। इसी वासनावरण से वासनाकर्षण से आकर्षित मन "**ओकःसारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति,**

ऐव तत्रापरं गच्छति" इस सिद्धान्त के अनुसार वासनामय विषयों की ओर अनुधावन करता है। वासना के प्राबल्य से तदभिन्ना बुद्धि मलिन होजाती है। बुद्धिमालिन्य से तद्युक्त आत्मा स्वविकास से वञ्चित होजाता है। इसप्रकार परम्परया आत्मा वासनाबन्धन का भी पात्र बन जाता है।

२२६-वासनात्मक आवरणसंस्कारों की स्वरूपदिशा का चित्रण, आत्मप्रकाशप्रतिबन्धक-वासना-संस्कारों का आवरण, एवं तत्सम्बन्धानुबन्धी स्थूलशरीरानुगत-बन्धन का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वासनासंस्कारों के आत्यन्तिक आवरण से आगे जाकर बुद्धि अपना स्वरूप सर्वथा ही खो बठती है। बुद्धि मोहरूप में परिणत होजाती है। यही बुद्धि का कलिलभाव है। इसप्रकार वासनाप्राबल्य से मोह-कलिला बनी हुई बुद्धि वासनामय मन को सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देती है। जबतक संस्कारों का प्रभाव केवल मन पर ही रहता है, तबतक तो हृद्ग्रन्थि नहीं होने पाती। क्योंकि मन स्वभावतः अस्थिर है। अस्थिर मन कभी एक स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। स्थिरता बुद्धि का धर्म्म है। आत्यन्तिक आवरण से जब बुद्धि आत्मप्रकाश से वञ्चित होती हुई मन की अनुयायिनी बन जाती है। तो बुद्धि की स्थिरता से वे संस्कार दृढमूल बनते हुए हृद्ग्रन्थि के कारण बन जाते हैं। इस बन्धन से भी अक्षरात्मिका बुद्धि के साथ रहने वाला आत्मा नहीं बचकता, यही इस आत्मा का तीसरा बन्धन है। भौतिक विषय वैकारिक हैं। उक्त तीनों कर्म्मों का भौपिक प्रपञ्च से ही सम्बन्ध है। अतएव कर्म्मत्रयबन्धन को वैकारिकबन्धक कहा जासकता है। इसका प्रथाधिकारी सेन्द्रिय स्थूल शरीर ही माना जायगा। अतएव इस प्रथम बन्धन को "स्थूलशरीरबन्धन" भी कहा जासकता है।

२३०-सूक्ष्मशरीरबन्धन, तथा कारणशरीरबन्धन, नामक द्विविध बन्धनों के प्रवर्त्तक संस्कारों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मन क्षरप्रधान है। कर्म्मत्रयजनित वासनासंस्कार का अधिष्ठाता यही क्षरात्मक मन बनता है। दूसरे शब्दों में वासना का प्रथमाक्रमण इसी पर होता है। अतएव वासनाबन्धन को हम **क्षरानुबन्धी बन्धन** कह सकते हैं। क्षरानुबन्धी मन हीं सूक्ष्मशरीर की प्रतिष्ठा है। इसी दृष्टि से इस द्वितीय बन्धन को **"सूक्ष्मशरीरबन्धन"** भी कहा जसकता है। बुद्धि अक्षरप्रधाना है। चञ्चल मन पर प्रतिष्ठित वासनासंस्कार को हृद्ग्रन्थिरूप में परिणत करते हुए इसे दृढमूल करना बुद्धि का ही काम है। अतएव हृद्ग्रन्थिबन्धन को हम **"अक्षरानुबन्धीबन्धन"** कह सकते हैं। अक्षरानुगता बुद्धि ही कारण-शरीर की प्रतिष्ठा है। इसी दृष्टि से इस तृतीय बन्धन को **"कारणशरीरबन्धन"** भी कह सकते हैं।

२३१-विश्वकेन्द्रस्थ सर्वमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण का माङ्गलिक संस्मरण, एवं अमृत मृत्यु-से समन्वित केन्द्रात्मा—

विश्व के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इसके उस ओर परमेष्ठी-स्वयम्भू, ये दो पर्व प्रतिष्ठित हैं, इस ओर चन्द्रमा-पृथिवी ये दो पर्व प्रतिष्ठित हैं। पर स्थानीय दोनों पर्व अव्ययानुग्रह से, किंवा अव्ययप्रधान

बनते हुए "**अमृत**" हैं। अवर-स्थानीय दोनों पर्व क्षरानुग्रह से, किंवा क्षरप्रधान बनते हुए "**मर्त्य**" हैं। मध्यस्थ सूर्य्य मध्यस्थ अक्षरानुग्रह से, दूसरे शब्दों में अक्षरप्रधान बनता हुआ उस ओर की अव्ययानुगता अमृतसम्पत्ति का, इस ओर की क्षरानुगता मर्त्यसम्पत्ति का अधिकारी बनता हुआ "**अमृत-मर्त्य**" है, जैसाकि-"**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

२३२-पार्थिवी अध्यात्मसंस्था के पञ्च पर्वों का स्वरूप-संस्मरण, एवं अध्यात्मजगत् से अनुप्राणिता विशुद्धसत्त्वानुगता प्रथमा संस्था का स्वरूप-समन्वय—

ये ही पाँचों पार्थिव पर्व अध्यात्मसंस्था में क्रमशः **अव्यक्त** (स्वयम्भू -**महान्** (परमेष्ठी) बुद्धि (सूर्य्य)-**मन** (चन्द्रमा)-**शरीर** (पृथिवी) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों के अव्यय-अक्षर-क्षर भेद से तीन श्रेणिविभाग हैं। अव्यक्तगर्भित पारमेष्ठ्य, अतएव सलिलमूर्त्ति (आपोमय) * महानात्मा सत्त्वप्रधान है। इसी में ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति,ज्योतिर्घन, ईशान अव्यय प्रतिष्ठित है। इसप्रकार अव्यय-महान्, ये दो पर्व तो अव्ययात्मा से सम्बन्ध रखते हैं। यही पहिली पुरुषसंस्था है, इसे ही हम शुद्धसत्त्वसंस्था कहेंगे। यह पुरुषात्मा न कर्त्ता है, न कारयिता है, अपितु सर्वथा निर्लेप है।

२३३-मलिन-सत्त्वानुगता द्वितीया रजोगुणान्विता-संस्था, तथा तमोऽनुगता तृतीया संस्था के तात्त्विक स्वरूपों का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

सूर्य्यांशभूता बुद्धि अक्षरस्थानीया है। यह अक्षरात्मसंस्था है। यही मलिनसत्त्वसंस्था कहलाएगी। यही बुद्धि (विज्ञानात्मा) क्षेत्रज्ञ, कारयिता आदि नामों से प्रसिद्ध है। चन्द्रांशभूत मन क्षरस्थानीय है। यही वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण प्राणात्मा से संश्लिष्ट होकर इन्द्रियों के द्वारा कर्म्मत्रय में प्रवृत्त होने वाला कर्म्मकर्त्ता कर्म्मात्मा है। रजोगुण इसकी प्रतिष्ठा है। पार्थिव शरीर इस का योगायतन है। यह शरीर तमोगुणप्रधान है। मन-शरीर दोनों की समष्टि क्षरसंस्था है। तमोमय भोगायतन क्षरात्मक पार्थिव शरीर स्थूलशरीर है, रजोमय भोगकर्त्ता क्षरात्मक, सेन्द्रिय चन्द्रमय मन सूक्ष्मशरीर है, मलिनसत्त्वमय, कर्म्मकारायिता-अक्षरात्मक सौर विज्ञान (बुद्धि) कारणशरीर है। एवं स्वायम्भुव अव्यक्तगर्भित पारमेष्ठ्य, विशुद्ध सत्त्वमय महद्युक्त ज्योतिर्घन, कार्य्यकारणातीत ब्रह्म-कर्म्ममय अव्यय आत्मा है। इस आत्मा पर पहिला वेष्टन कारणशरीर (बुद्धि) का है, दूसरा वेष्टन सूक्ष्मशरीर (सेन्द्रियमन) का है, तीसरा वेष्टन पाञ्चमहाभौतिक स्थूलशरीर का है। सांसारिक विषयजात वैकारिक हैं। इन का प्रथमाक्रमण स्थूलशरीर पर, तज्जनित वासना का आक्रमण सूक्ष्मशरीर पर, तज्जनित हृद्ग्रन्थि का आक्रमण कारणशरीर पर, इस प्रकार परम्परया वह आत्मा तीन बन्धनों से युक्त होजाता है। महन्मूर्त्ति उस का विशुद्ध सत्व मलिन होजाता है, स्वाभाविक विकास अभिभूत होजाता है।

---

* महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥ (उपनिषत्)।
मम योनिमर्हद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां तमो भवति भारत !॥ (गीता)।

२३४–अध्यात्मसंस्थानुगत–त्रिगुणभावनिबन्धन–पञ्चात्मक विस्तार का स्वरूप–समन्वय—

१–१–स्वयम्भूः (अव्यक्तः) २–२–परमेष्ठी (महान्)	शरीरत्रयपरिच्छिन्नो विशुद्धसत्त्वमूर्त्तिः–आत्मा (अव्ययः)।
३–१–सूर्य्यः (बुद्धिः)	अक्षरानुग्रहीतं कारणशीररम् (मलिनसत्त्वमयम्)
४–१–चन्द्रमाः (मनः)	क्षरानुग्रहीतं सूक्ष्मशरीरम् (रजोमयम्)
५–२–पृथिवी (शरीरम्)	क्षरानुग्रहीतं–स्थूलशरीरम् (तमोमयम्)

वैकारिकाः—



१–कर्म्मत्रयबन्धनम्–शरीरानुगतं वा विकारानुगतम्

२–वासनाबन्धनम्–मनोऽनुगतं वा क्षरानुगतम्

३–हृद्ग्रन्थिबन्धनम्-विज्ञानानुगतं वा अक्षरानुगतन् ।

——★——

२३५–बन्धनत्रयी से अनुप्राणिता सिद्धावस्था, और साध्यावस्था का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं अक्षरनिबन्धन सुप्रसिद्ध 'ज्ञानयोग' से हृद्ग्रन्थि का विमोक, और तदनुबन्धी विदेह-भाव—

तीनों बन्धनों के साध्य और सिद्धावस्था के भेद से दो स्वरूप होजाते हैं। साध्यावस्था में कर्म्मबन्धन सबसे प्रबल, वासनाबन्धन उस से शिथिल, हृद्ग्रन्थिबन्धन इस से शिथिल। परन्तु सिद्धावस्था में ठीक इस से उलटा होजाता है। हृद्ग्रन्थिबन्धन सब से प्रबल, वासनाबन्धन इस से शिथिल, कर्म्मबन्धन इससे

शिथिल। आत्मा के वास्तविक स्वरूपोदय के लिए तीनों बन्धनों का उच्छेद अपेक्षित है। एवं उसी का एकमात्र उपाय है निष्कामलक्षण-निवृत्तकर्म्म। निवृत्तकर्म्म सब से पहिले कर्म्मत्रयबन्धन पर प्रहार करता है। जिन कर्म्मों में कर्म्मात्मा कामनापूर्वक प्रवृत्त होता है, उस कामना को हटाता है। कामना के हटते ही कर्म्मत्रय बन्धन पलायित होजाता है। दूसरा प्रहार वासनाबन्धन पर होता है। निष्कामभाव की प्रधानता से ज्ञानवृद्धि होती है। इस से वासनाबल निर्बल बन जाता है। क्योंकि वासना ही तो हृद्ग्रन्थि का कारण बनी थी। अतएव वासना के शिथिल होते ही वह तीसरा बन्धन भी शिथिल होजाता है। जब कर्म्मात्मा इस निष्कामकर्म्म के प्रभाव से अन्तर्मुख बनता हुआ परावर नाम से प्रसिद्ध बुद्धिरूप अक्षर पर पहुँच जाता है, तो अक्षराव्यवहितप्रदेश में प्रतिष्ठित सर्वज्ञानघन उस अव्ययात्मा के साथ योग कर लेता है। इस प्रकार परावरप्राप्ति के द्वारा अव्ययज्ञान के साथ योग करता हुआ ज्ञानयोगसिद्धि प्राप्त कर यह बन्धत्रय से अहि:कञ्चुकिवत् विनिर्मुक्त होजाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

२३६—प्रक्रान्त ज्ञानयोग का सिंहावलोकन-दृष्ट्या-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं 'ज्ञानयोग-परीक्षा' का स्वरूप-विराम—

ज्ञानयोग के उक्त विवेचन से ऐसा भ्रम होने लगता है कि, सर्वकर्म्मपरित्याग ही ज्ञानयोग सिद्धि का अन्यतम द्वार है। और हमारे सांख्यनिष्ठ प्राधानिकोंनें तो इसी भ्रम को सत्य का बाना पहिना कर लोक में प्रचलित भी किया है। परन्तु गीता का संशोधन इस सम्बन्ध में यह निर्णय करता है कि, ज्ञानवत् कर्म्म भी आत्मा का ही स्वरूप है। इस कर्म्म की ही **सहचर—और चिति**, नाम की दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध ही चिति-सम्बन्ध है, एवं सहावस्थानलक्षण-योगसम्बन्ध ही सहचरसम्बन्ध है। कर्म्म का योगसम्बन्ध सर्वथा 'अबन्धन' है। चितिसम्बन्ध ही एकमात्र बन्धन, किंवा आवरण का कारण है। चितिभङ्ग से ग्रन्थि खुल जाती है, कर्म्म सहचरभाव में परिणत होजाता है। चितिमूलक ग्रन्थिबन्धन का खुल कर कर्म्म का ज्ञान के साथ सहचरभाव से योग होजाना ही **नैष्कर्म्यलक्षण संशोधित ज्ञानयोग, किंवा ज्ञानबुद्धियोग है। और यही गीताभूमिकानुगता संक्षिप्ततमा ज्ञानयोगपरीक्षा का स्वरूप-विराम है।**

इति—गीताभूमिकान्तर्गता—'घ'—कार विभागात्मिका

ज्ञानयोगपरीक्षा-उपरता

घ

————

श्री

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः–अन्तरङ्गपरीक्षायाः–
अन्तरंगरीक्षात्मकः-'घ' कार-विभागात्मकः

"ज्ञानयोगपरीक्षाखण्डः"

उपरतः

—:*:—

१६-शतपथब्राह्मण-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड ... २५)

१७-शतपथब्राह्मण-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीयखण्ड ... ३०)

१८-दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... २५)

१९-संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा नामक-उद्बोधनात्मक-सामयिक--निबन्ध २५)

२०-"भारतीय-हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थानुगत-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड ... १५)

२१-भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... १।।)

२२-वेद का स्वरूप-विचार ... . २)

२३-क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रणात्मक निबन्ध) ... २।।)

२४-'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध) ... ... १।।)

२५-*राष्ट्रपतिभवन से अनुप्राणित-"व्याख्यानपञ्चक" ... ६)

(१)-सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या (प्रथम-व्याख्यान)
(२)-पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय-")
(३)-मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय-")
(४)-'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ-")
(५)-वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम-")

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक-'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'
मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)



*-राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–जयपुर'
के द्वारा प्रकाशित
एवं
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम–दुर्गापुरा (जयपुर)
के द्वारा मुद्रित